ओ३म्

उपनिषत् प्रकाश

(ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य)

(भाष्यकार)

श्री १०८ स्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती

डा० बाबूराम सक्सेना
द्वारा प्रदत्त

(अनुवादक)

श्री मास्टर अवधविहारीलाल चाँदापुर

(संशोधन तथा परिवर्द्धनकर्त्ता)

उपनिषत परिचय और भूमिका लेखक

श्री आचार्य विश्वश्रवा जी

"वैदिक रिसर्च स्कालर"

संस्थापक

वेदमन्दिर बरेली

नवम स स्करण १९४५ सवातीन रुपया
सजिल्द साढ़ेतीन रुपया

प्रकाशक
श्यामलाल सत्यदेव
वैदिक पुस्तकालय,
बरेली, लखनऊ

इस पुस्तक की नवम आवृत्ति तक २५००० प्रतियाँ निकल चुकी हैं।

मुद्रक
पं० भृगुराज भार्गव
भार्गव-प्रिंटिङ्ग-वर्क्स
लाटूश रोड, लखनऊ

* ओ३म् *

भूमिका

प्रश्न—कोई भी मनुष्य किसी कार्य को बिना प्रयोजन के नहीं करता। तुम्हारे! इन ईशोपनिषद् आदि के अनुवाद करने का क्या अभिप्राय है। और इसमें किन-किन बातों का वर्णन होगा ?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करें। और इसी के लिए समस्त संसार के मनुष्य रात दिन प्रयत्न करते हैं। परन्तु वेद विद्या का ज्ञान न होने से सुख और दुःख के ठीक-ठीक साधनों को न जानकर दुखदायक वस्तुओं को सुखदायक समझकर दुःख उठा रहे हैं। और ईश्वर, जीव और प्रकृति के गुण कर्म और स्वभाव का ठीक ज्ञान न होने से मनुष्य-जीवन जैसे अनमोल रत्न को पशुओं की भाँति केवल पेट पालने में खो रहे हैं। सहस्रों मनुष्य इस विद्या के न जानने से ऐसे बुरे मार्ग पर चल रहे हैं कि जहाँ उनकी आयु की पूँजी को दूसरों के हाथ से एक मिनट भी शान्ति मिलना कठिन है। और सब दुःखों से छुड़ाकर सुख देनेवाले परमात्मा को मनुष्यों ने ऐसा भुला दिया है कि लगभग सर्व संसार में उस केठीक-ठीक स्वरूप के जाननेवाले बहुत ही थोड़े मनुष्य रह गए हैं। शेष सब मनुष्य विपरीति इसके कि ईश्वर के गुणों का वर्णन करें, उसकी निन्दा करते हैं। कोई उस सर्वसहायक और परम शक्तिमान् को आकाश के कोठे पर कैद कर रहा है। और विपरीत इसके कि उसके बिना आधीन हुए अपने कार्यों को बिना सहायता के करे, उसकी सहायता के लिए फ़रिश्तों और पैग़म्बरों की वाहिएँ भर रहा है। कोई उसकी पवित्र आत्मा को भक्तों

पर दया दिखाने वाला बता रहा है। और सर्व संसार की उत्पत्ति अपने रसूल के लिये बता रहा है। कोई ईश्वर के साथ लम्बी चौड़ी मिला कर पिता पुत्र और रुहुल कुदस के नाम से जीव ब्रह्म प्रकृति की सत्ता स्वीकार कर रहा है; कोई ईश्वर की सत्ता से विमुख होकर सृष्टि को अनादि बता रहा है और मुक्त मनुष्यों को तीर्थंकर और सिद्ध कहकर उन्हें मोक्ष शिला पर आसीन सिद्ध करता हुआ पुजवा रहा है।

तात्पर्य यह है कि चारों ओर ईश्वर, जीव के सम्बन्ध में ऐसा अँधेरा छा रहा है कि जब तक इन पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान संसार में न फैल जावे तब तक कोई मनुष्य भी सुख और शान्ति से जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। नियम मार्ग तक पहुँचने का कहना ही क्या है। सर्व संसार का धर्म कर्म और वंश की प्रतिष्ठा और सदाचार सब धन के सहारे आ रहा है। जिसके पास रुपया है वह सहस्रों प्रकार की बुराइयों के करने पर भी सदाचारी है। बिरादरी में उसके दुराचारों पर दृष्टि डालनेवाला कोई नहीं। और जिसके पास धन नहीं, वह किसी प्रकार भी संसार में प्रतिष्ठा के योग्य नहीं गिना जाता। इस अवस्था को देखकर प्रत्येक ब्राह्मण, साधु जन जिनके धर्म में रुपये का रखना भारी पाप समझा जाता था, धन के कमाने में लग गये। तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े धर्म प्रचारकों को भी धन कमाने की धुनि ने धर्म के मार्ग से पृथक् कर अधर्म के मार्ग का यात्री बना दिया। जिनके विश्वास पर लोग अपनी आयु की नाव को संसार-सागर से पार लगाने के विचार में मग्न थे। वे लोग भी टके के ध्यान में फँसकर स्वयं अपनी आयु को भँवर में फँसा बैठे। ऐसी अवस्था को देखकर इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि समस्त देशभाषा जाननेवालों को ईश्वर, जीव और प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान कराने के हेतु उपनिषदों का (जो ईश्वर के बनाए हुए वेदान्तों के व्याख्यान हैं) देशभाषा में अनुवाद किया जावे। और कुछ मित्रों के कहने से यह भी प्रतीत हुआ कि यह अनुवाद संक्षेप और केवल शब्दार्थ रूप में ही न किया जावे किन्तु जहाँ तक हो सके पूर्ण विस्तार के साथ ठीक प्रकार से और कुछ स्थानों पर आवश्यक आन्दोलन के साथ चलाया जावे। यद्यपि मेरी विद्या की योग्यता इस प्रकार की नहीं कि मैं इस

प्रकार के बोझ और उत्तर-दायित्वपूर्ण कार्य को सहनकर सकूँ, तथापि परमात्मा की सहायता के विश्वास पर चलने का उद्योग किया जायगा।

ईश उपनिषद् वास्तव में यजुर्वेद की काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है। इसमें सब मन्त्र ज्ञान-काण्ड के हैं। जहाँ तक विचार पड़ता है, सब उपनिषदों का मूल यही उपनिषद् है। क्योंकि यह उपनिषद् वेद के अन्त में है। इसी कारण से इसका नाम वेदान्त रक्खा गया। और शेष उपनिषद भी इसी कारण वेदान्त कहे जाते हैं। और व्यासजी ने ब्रह्म-सूत्रों में भी इसी के विषय से ब्रह्म-सिद्धि को लिया। इसीलिए उसका नाम भी वेदान्त-शास्त्र हुआ। दूसरा कारण इनको वेदान्त कहने का यह भी है कि वेद नाम ज्ञान का है और ब्रह्म के जानने में बुद्धि से पूरा काम नहीं चलता। और ब्रह्म-ज्ञान, ज्ञान की सब से अन्तिम श्रेणी है। क्योंकि प्रकृति से जीव सूक्ष्म है और उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, परन्तु उसके कार्य और ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसकी सत्ता का ज्ञान सर्व साधारण को हो सकता है। परन्तु ब्रह्म ऐसी सूक्ष्म वस्तु है कि जिसका ज्ञान भी इन्द्रियों से तो हो ही नहीं सकता, इस कारण से शब्द प्रमाण की आवश्यकता है। और आचार्य लोग वेद को सब से अधिक स्वतः प्रमाण मानते हैं। इसलिए इन वेद के ब्रह्म के विषय में मन्त्रों और उनकी व्याख्या का नाम वेदान्त हुआ।

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

ओ३म्

संपादक की भूमिका

(उपनिषत् शब्द का अर्थ)

श्रीशंकराचार्य जी ने उपनिषत् शब्द के सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखा है—

(सदेर्धातोविशरणगत्यवसादनार्थस्य—उप नि पूर्वस्य क्विप् प्रत्य-त यान्तस्य रूपम्—उपनिषत्—इति । उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासि-ग्रन्थ प्रतिपाद्यविषया विद्योच्यते) अर्थात्—षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इस धातु से उप नि उपसर्ग पूर्वक उपनिषत् शब्द क्विप् प्रत्यय करके बनता है । और इस उपनिषत् शब्द का अर्थ ब्रह्मविद्या है परन्तु लक्षणा से ब्रह्मविद्या का उपदेश करनेवाले ग्रन्थों को भी उपनिषत् कहते हैं ।

ये मुमुक्षवो·····विद्यामुपसद्य उपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणात्—हिंसनाद विनाश-नात·····मुमुक्षून् वा परं ब्रह्म गमयति····· ··गर्भवासजन्मजराद्युप-द्रववृन्दस्य लोकान्तरे यौनःपुन्येन प्रवृत्तस्य—अवसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन··· ···।

अर्थात् षद्धातु के तीन अर्थ हैं—

१—विशरण=नाश करना । २—गति=प्राप्ति । ३—अव-सादन=शिथिल करना । इसी प्रकार 'उप' का अर्थ है प्राप्त होकर और नि का अर्थ है निश्चय ।

जिस विद्या को प्राप्त करके निश्चय पूर्वक अविद्या का नाश, ब्रह्म की प्राप्ति और जरा जन्म आदि उपद्रव शिथिल होते हैं उस विद्या को उपनिषत् कहते हैं तथा उस विद्या का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों को भी उपनिषत् कहते हैं।

(उपनिषत् शब्द का प्रयोग)

उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु का प्रयोग क्रिया रूप में बहुत स्थानों में आया है। यथा—

उपनिषससाद = ऐतरेय आरण्यक २। २। ३।

उपनिषसाद = जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३। १। ३। ६—११।

उपनिषेदुः = जैमिनीय ब्राह्मण १४३, जै० उ० २। २। ४। ११।
षड्विंशब्राह्मण १। ४। ७।

उपन्यषीदन्=जै० ब्रा० ८५

ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उपनिषत् शब्द का भी प्रयोग बहुत है। उपनिषदों में भी उपनिषत् शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा—

"उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदम-ब्रूमेति" (केन)

वेदान्त शब्द का भी उपनिषत् अर्थ में प्रयोग है। यथा—

"वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः" (मुण्डक)

यहाँ वेदान्त शब्द का अर्थ उपनिषत् है। तैत्तिरीय और छान्दोग्य आदि उपनिषदों में आसुर उपनिषत् और वेदोपनिषत् रूप से भी उपनिषत् शब्द का प्रयोग है। (देखो तैत्तिरीय १। ११॥ छान्दोग्य ८। ८। ५॥)

उपनिषदों का बहुत सा भाग महाभारत के बाद का भी है जैसा कि छान्दोग्य उपनिषत् 'तद्धैतद् घोर आङ्गिरस कृष्णाय देवकीपुत्राय' ३। १७। ६॥ में देवकी पुत्र कृष्ण का नाम आया है। उपनिषदों की संख्या ढाई सौ तक पहुँची है और अल्लोपनिषत् जैसी उपनिषत् तक का जन्म हुआ। जो यवन की सी कृति है।

(प्रामाणिक उपनिषदें)

महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी ने 'ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक,' इन दस उपनिषदों को प्रमाण माना है। इन्हीं दस उपनिषदों पर श्रीशंकराचार्यजी ने भाष्य किया है। दूसरी श्रेणी की उपनिषदें 'श्वेताश्वेतर, कौषीतकी ब्राह्मण और मैत्री उपनिषत् हैं। बहुत-सी उपनिषदें तो संप्रदाय की धुन में ही लिखी गई हैं। उन प्रामाणिक उपनिषदों में भी कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें हम वैदिक आदर्श से गिरा हुआ कह सकते हैं जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् (५। १४। ७) में लिखा हुआ अभिचारकर्म किसी वैदिक को मान्य नहीं हो सकता। वेद के अतिरिक्त समस्त वैदिक साहित्य में प्रक्षेप हुए हैं। गीता उपनिषत् दर्शन ब्राह्मण ग्रन्थ आदि सारा साहित्य प्रक्षेप से मिश्रित है। आर्य विद्वानों का साहस और परिश्रम अभी इतना नहीं है कि वे अपने मान्य सब ग्रन्थों की स्पष्ट मीमांसा कर सकें। मेरे मित्र पं० उदयवीरजी शास्त्री ने सांख्यदर्शन में प्रक्षेप के सम्बन्ध में पाण्डित्यपूर्ण बहुत कुछ लिखा है। बाली द्वीप में प्राप्त गीता में भी ७० ही श्लोक हैं। उपनिषत्, गीता, दर्शन, ब्राह्मण ग्रंथ, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, आदिकों के असली मूलग्रन्थों का संपादन और उन पर प्रामाणिक भाष्यों के बनने का कार्य अभी आरम्भ भी नहीं हुआ है। इसका एकमात्र कारण आर्य जनता का आर्य विद्वानों को सहयोग न देना ही है। इधर-उधर की किताबों से बातें संग्रह करके वृथा पुष्ट बहुत ग्रन्थों के बनाने और खेंचतान करके सब ग्रन्थों पर टीका लिख मारने से मूर्ख जनता में चाहे महापण्डित मनुष्य कहलावे पर विद्वानों की दृष्टि में हास्य का ही पात्र मनुष्य बनता है। हमें कभी इस बात पर विचार करना चाहिये कि हमारे समाज में हज़ारों ग्रन्थों का निर्माण हुआ है उनमें से कितने ग्रन्थों का प्रभाव संसार के विद्वानों पर हुआ है।

स्वामी दर्शनानन्दजी की विशिष्टता

संभवतः कोई ही पण्डित शेष रहा होगा, जिसने उपनिषदों पर टीका न लिखी हो या लिखने का विचार न कर रहा हो परन्तु हमारी

दृष्टि में दो एक ही व्यक्ति आये हैं जिनकी टीका का कोई महत्त्व हो सकता है। जिस प्रकार श्री पूज्य नारायण स्वामी जी महाराज का प्रत्येक ग्रन्थ की टीका लिखने में स्पष्टीकरण उनकी अपनी विशेषताहै उसी प्रकार श्रीपूज्य स्वामी दर्शनानन्दजी की तर्कणाशक्ति उनकी अपनी विशेषता है। स्वामी दर्शनानन्दजीकृत उपनिषदें की टीका देखकर कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि जो उपनिषदें ऋषि कृत हैं उनकी स्वामीजीकृत टीका भी उसी योग्यता की है अर्थात जिस प्रकार ऋषियों ने तर्क आदि द्वारा विषय को सिद्ध किया है। उनकी टीका लिखते हुए स्वामी दर्शनानन्दजी कुछ बातें अपनी ओर से अधिक लिखते हैं वे बातें भी उसी योग्यता की प्रतीत होती हैं। कठ उपनिषत के यम और नचिकेता के वर्णन में अच्छा प्रकाश स्वामी जी ने डाला है तथा (देखो मुंडक १। २। १२ ॥) प्रायः सारा ही उपनिषत्प्रकाश ऐसी बातों से भरा हुआ है। आर्य समाज के पहले के विद्वानों का यह स्वभाव था कि यदि ऋषि दयानन्द जी ने यजुर्वेद और ऋग्वेद का भाष्य कर दिया तो इन्हीं दो पर वेदभाष्य करने को कोई नहीं अड़ता था पं० क्षेमकरण दासजी त्रिवेदी ने अथर्ववेद पर भाष्य किया और पं० तुलसीराम जी ने सामवेद पर भाष्य किया। शिवशंकरजी काव्यतीर्थ ने ऋग्वेद पर भाष्य वहाँ से आरम्भ किया जहाँ से ऋषि दयानन्द का छुटा हुआ था। पं० भीमसेन जी ने आठ उपनिषदों पर भाष्य किया उसके अनन्तर शेष दो पर ही पं० शिवशंकरजी ने भाष्य किया। मैं तो विद्वानों से यही प्रार्थना करूँगा कि अब गीता उपनिषद आदि पर बहुत भाष्य हो चुके हैं वैदिक साहित्य में सहस्रशः ग्रन्थ पड़े हैं जिन का अनुवाद किसी ने नहीं किया। उन ग्रन्थों को भी अनुवाद करके पठन पाठन में लाओ। इससे अधिक कल्याण होगा। हाँ यह अवश्य है कि जिन ग्रन्थों पर बहुत से लोगों ने टीका लिखी है उन पर ही टीका लिखने से आप बिना परिश्रम भाष्यकार बन जावेंगे और जिन ग्रन्थों पर किसी ने अभी तक टीका नहीं लिखी है उन पर टीका लिखने में आपको कुछ परिश्रम भी करना पड़ेगा। परन्तु विद्वत्समाज में आपका स्थान ऐसा ही करने से बनेगा क्योंकि पिष्टपेषण भी दोष संसार में अभी समझा ही जाता है। या स्वामी दर्शनानन्द जी के

समान योग्यता हो कि चाहे अन्यों ने उस ग्रन्थ की टीका पूर्व की भी हो पर इस नवीन टीका को देखकर योग्य से योग्य व्यक्ति मुग्ध हो जावे। अन्य स्थानों पर लिखी हुई बातों को किसी ग्रन्थ की टीका में भर देने से नवीन साहित्य की वृद्धि नहीं हो जाती है। भाष्यकार वही है जो उस ग्रन्थ के रहस्य को खोले या मूल पुस्तक के शब्दों से बात को पुष्ट करे स्वामी दर्शनानन्द जी के भाष्य में सर्वत्र यही प्रवाह मिलेगा। महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने समस्त साहित्य पढ़कर तथा अपनी आर्ष प्रतिभा से सिद्धान्त निश्चित किये हैं। उनकी यह अटल धारणा थी कि ऋषियों में मतभेद सिद्धान्तों में कहीं नहीं है। वैदिक साहित्य में वर्णन करने की शैली भिन्न भिन्न प्रकार की है जिससे श्रद्धाहीन व्यक्ति बहक सकता है। ऐसे स्थलों की व्याख्या स्वा० दर्शनानन्द जी ने बड़ी योग्यता से की है, जैसे देखो मुंडक उपनिषत् का प्रारम्भ 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव, इत्यादि की व्याख्या। ऐसे स्थलों की टीका लिखते हुए बहुत व्यक्ति सिद्धान्तभ्रष्ट हो जाते हैं और वे पण्डित यह समझते हैं कि हम बहुत बड़े सत्यवक्ता हैं पर वे यह नहीं विचारते कि अन्य ऋषियो से या इस ही ग्रन्थ के अन्य स्थलों से जो विरोध हो जावेगा उसका भी उत्तर-दायित्व तुम पर कुछ है या नहीं। हर एक ग्रन्थ का अर्थ भी अमरकोष से ही नहीं हो जाता है। प्रत्येक साहित्य की अपनी शैली तथा शब्दों की प्रवृत्ति भिन्न प्रकार की होती है। मुंडक उपनिषत् के 'तपसा चीयते ब्रह्म' यहाँ तप का ज्ञान ही अर्थ ठीक है जैसा आगे ही लिखा है कि "यस्य ज्ञानमयं तपः" देखो मुंडक १।१।८,९।

स्वामी दर्शनानन्दजी ने उपनिषद में परस्पर विरोध न हो तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों में मतभेद न हो इस बात को दृष्टि में रखकर उपनिषदों के शब्दों के अर्थ किये हैं। संस्कृत के विद्वानों को भी एक बार उपनिषत्प्रकाश अवश्य पढ़ना चाहिये। संस्कृत के पण्डितों में प्रायः यह स्वभाव होता है कि वे हिन्दी की टीका नहीं देखते। मैंने स्वयं पहले कभी उपनिषत्-प्रकाश को नहीं पढ़ा था। मुझे आरम्भ से ही संस्कृत पढ़ाई गई थी। मैं हिन्दी भाषा केवल इसलिये जानता हूँ कि हिन्दी बोलनेवालों में रहता था अतः वह दोष

मेरे अन्दर भी था। प्रिय सत्यदेव ने उपनिषत्प्रकाश के संपादन का भार मुझ पर डालकर मेरा उपकार ही किया है। जो इसके पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ।

(पिछले संस्करणों में असावधानियाँ)

उपनिषत्प्रकाश के हिन्दी संस्करण कई निकल चुके हैं। अनेक प्रकाशकों ने इसे छापा है पर प्रत्येक संस्करण अशुद्धियों से भरा हुआ है। मैंने इस बात का यत्न किया है कि यह संस्करण पिछले सब संस्करणों से परिमार्जित निकले। मेरे पास यदि उर्दू का संस्करण होता तो मैं अधिक सफल होता। मुझे मास्टर अवधबिहारीलालजी के अनुवाद पर ही आश्रित होना पड़ा है। इसके अतिरिक्त यह भी असुविधा थी कि प्रेस का प्रबन्ध लखनऊ में हुआ और मेरा निवास बरेली था और इसके मुद्रणकाल में भी सारे भारत में प्रचारार्थ यात्रा भी करता रहा और इसका संपादन कार्य भी चलता रहा। तथापि पाठकों को थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ कि मैंने इस संस्करण को किस प्रकार शुद्ध किया है। उपनिषत्प्रकाश के छापने में स्वामी दर्शनानन्दजी के साथ प्रकाशकों ने बहुत अन्याय अब तक किया है। कहीं पदार्थ में अर्थ विद्यमान है पर मूल शब्द छूटा है जैसे 'यथा सुदीप्तात्' मुण्डक १२। १। १। में पदार्थ में 'सुदीप्तात्' शब्द छूटा है पर उसका अर्थ 'भली प्रकार जलती हुई' यह पदार्थ में विद्यमान है इस प्रकार के स्थल हमने पूर्ण कर दिये और कहीं-कहीं तो पदार्थ में शब्द और दोनों ही छूटे हैं जैसे मुण्डक १। २। १३। में 'शमान्विताय' यह शब्द भी पदार्थ में नहीं है और न इसका अर्थ ही वहाँ है। इसको हमने भावार्थ के आश्रय से ठीक कर दिया है। पर ये सब संशोधन हमने डरते डरते कुछ किये हैं और इस बात की प्रतीक्षा में हूँ कि पाठक तथा पण्डितवर्ग हमें किस दृष्टि से देखेगा। इस प्रतीक्षा के बाद द्वितीय संस्करण पूर्ण शुद्ध निकालेंगे यदि आर्यजगत का प्रोत्साहन हमें मिलेगा। कहीं-कहीं समस्त पदों को तोड़ तोड़ कर अर्थ छापा हुआ था, विभक्ति की भी दुर्दशा थी उसे हमने एकत्र करने का यत्न किया

है (देखो मुण्डक २ । २ । ७ ॥) 'प्राण शरीर नेता' की व्याख्या । जिन व्यक्तियों ने आरम्भ से अँगरेज़ी पढ़ी होती है, बाद में यदि वे संस्कृत पढ़ भी लेवें तब भी संस्कृत के शब्दों पर उन लोगों को अभ्यास नहीं होता है । वे प्रायः संस्कृत के शब्दों का गला घोटते हैं । ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा उपनिषत्प्रकाश के संस्करण निकले थे । इसमें उपरोक्त शब्द का बहुत प्रयोग है जो वास्तव में उपर्युक्त लिखा जाना चाहिये । इस प्रकार के सैकड़ों शब्द हमने ठीक किये हैं । पर जो अशुद्ध शब्द हिन्दी भाषा में अशुद्ध लिखते-लिखते शुद्ध मान लिये गये हैं उन्हें हमने छोड़ दिया है जैसे 'आधीन' आदि शब्द जो वास्तव में शुद्ध शब्द 'अधीन' है ।

स्वामी दर्शनानन्दजी ने स्वामी शंकराचार्यजी के भाष्य को अच्छी तरह देखा था और जहाँ सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है । वैसे साधारण प्रकरणों में बहुत स्थानों पर दोनों में समानता भी है जैसे (देखो कठ उपनिषद् १ । १ । ७ ।) में 'त्रिणाचि केतः' इत्यादि की व्याख्या स्वा० शंकराचार्य की तथा स्वामी दर्शनानन्दजी की । इसी शैली को दृष्टि में रखते हुए हमने मुण्डक २ । १ । ७ में 'शरीर के दर्शन के लिये' इसके स्थान पर 'शरीर के संस्कार के लिये' कर दिया है ।

मुद्रण के कार्य में दूर रहकर विसर्ग और परसवर्ण को समझाना मेरे लिये कठिन था अतः वह ह्रन्तव्य है । यथाशक्ति इसे भी ठीक किया है । प्रूफ़ देखने का कार्य सत्यदेवजी ने ही किया है जो कि परिश्रम से किया है । कहीं-कहीं प्रेस कापी के बनाने में हमें अपनी बुद्धि पर ही अवलम्बित होकर कार्य करना पड़ा है पर पूर्ण देख-भाल कर हमने संशोधन किया है । जैसे मुण्डक २ । १ । ४ । में "हृदयम् = दोहे के स्थान में" यहाँ "हृदय के स्थान में" कर दिया है ।

मुंडक १ । १ । ८ । में 'अन्नम् = प्रकाश रूप अग्नि' के स्थान में 'आकाश रूप अग्नि कर दिया है । तथा मुंडक २।२।२। में लोकिनः = जो मनुष्यों में रहनेवाले मनुष्य पशु इत्यादि' यह पाठ था यहाँ हमने "मनुष्यों" के स्थान में "लोकों" कर दिया है । मुंडक २।२।२ में

"वोद्धव्यम्=मन से जानने योग्य" के स्थान में "वोद्धव्यम्=मन से ताड़ने योग्य" कर दिया है। परन्तु जहाँ शब्द और अर्थ दोनों छुटे हैं और किसी प्रकार भी भावार्थ आदि से सहायता नहीं मिलती है वहाँ हमने मौन ही धारण किया है। हमारा यह दावा नहीं है कि हमने सब बदलकर ठीक कर दिया है पर जो कुछ हमने शोधा है उसका उत्तरदायित्व हम पर अवश्य है।

वैदिक सम्पत्ति और उपनिषत्

वैदिक सम्पत्ति के लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा ने पृष्ठ ४६६ से लेकर विस्तार के साथ उग्रतापूर्ण विवेचना उपनिषदों के सम्बन्ध में लिखी है। उनका ऐसा मत है कि उपनिषदों में अवैदिक लोगों द्वारा बहुत मिश्रण हुआ है। वे लोग ऐसी रचनाओं को भी ऋचा कहते है जो वेद के वाक्य नहीं हैं। ऋचा शब्द वैदिकों ने केवल वेद मन्त्रों के लिये प्रयोग किया है पर प्रामाणिक उपनिषदों में भी इससे उलटा व्यवहार देखने में आता है। इन उपनिषदों में आसुर उपनिषदों की बातों का भी वर्णन है तथा असत् पहले था या नहीं इत्यादि सन्देहपूर्ण परस्पर विरुद्ध बाते भी लिखी हैं। काण्वशाखा में भी 'पूषन्नेकर्षे' इत्यादि पाठ बाहर का मिला हुआ है इत्यादि पाठकगण रघुनन्दन शर्मा के विचार वैदिक सम्पत्ति द्वारा ही देखें।

इस बात को मैं भी अनुचित समझता हूँ कि उपनिषदों की टीका लिखते हुए कुछ व्यक्तियों ने वेद और शाखा का संमिश्रण कर दिया है। वास्तविक बात यह है कि उपनिषदों का वर्तमान स्वरूप हमारे लिये वही हो गया जिन पर श्रीशंकराचार्य जी ने भाष्य किया। सुरेश्वराचार्य (मंडन मिश्र) के प्रभाव के कारण शंकराचार्य ने काण्वशाखा की ईश और बृहदारण्यक उपनिषत् का प्रचार किया था क्योंकि सुरेश्वराचार्य की काण्वशाखा थी। इस बात का अनुकरण करना आर्यविद्वानों के लिये आवश्यक नहीं है। शंकराचार्य के भाष्य से पूर्व बृहदारण्यक उपनिषत् पर भर्तृ प्रपंच का जो भाष्य था वह माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषत् पर

था। इसी अभिप्राय से पं० भीमसेन जी ने ईशोनिषद का भाष्य करते हुए मूल पाठ यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय रखा है क्योंकि प्रचलित उपनिषत् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय नहीं है प्रत्युत काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है। प्रत्येक उपनिषत् के पूर्व उपनिषत्परिचय में हमने उस उपनिषत् के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें लिख दी हैं। या तो यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय को उपनिषत् मानकर भाष्य करना चाहिये जैसे पं० भीमसेन जी ने किया या काण्वशाखा के चालीसवें अध्याय को उपनिषत मानकर उस पर भाष्य करना चाहिये जैसा स्वा० दर्शनानन्दजी ने किया पर दोनों को मिलाकर एक नया मूल पाठ बनाकर भाष्य करना उचित नहीं है।

स्वामी दर्शनानन्द जी ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक माण्डूक्य इन छै उपनिषदों पर ही भाष्य किया है यदि स्वामी दर्शनानन्द जी अन्य उपनिषनों पर भी भाष्य करजाते तो उपनिषदें बहुत स्पष्ट हो जातीं।

एक आवश्यक निवेदन

एक बार आर्यसमाज कानपुर के वार्षिक उत्सव पर मैं गया वहाँ एक सनातनधर्मी पण्डित मेरे पास आये उनके हाथ में आर्यविद्वानों द्वारा किये हुए उपनिषदों के सब भाष्य थे और सत्यार्थ प्रकाश भी। एक स्थल दिखाकर वे कहने लगे कि अमुक उपनिषद के इस स्थल का अर्थ स्वामी दयानन्दजी ने इस प्रकार किया है तथा आर्य पण्डितों ने इस प्रकार किया है और इनका भी परस्पर किसी का मिलता नहीं है। मैं इस बात का कुछ भी उत्तर न दे सका स्वामी दर्शनानन्दजी यदि उस उपनिषत् पर भाष्य करते तो संभव है वे इस बात पर विचार करते। वस्तुतः हमारा कर्तव्य है कि यदि हम उपनिषदों की टीका लिखने बैठें तो हमें इस बात पर अवश्य विचार करना चाहिये कि उपनिषदों के जिन जिन प्रकरणों के अर्थ ऋषि दयानन्द ने किये हैं, उनको पहले देख लें। और यह रीति प्रत्येक ग्रन्थ के भाष्य करने में ध्यान देने योग्य है। इसके लिये आवश्यक है कि ऋषि दयानन्द के लिखे सारे साहित्य में वर्णित ग्रन्थों के प्रमाणों की एक तालिका

तैयार हो। जब कभी कोई आर्य विद्वान् किसी ग्रन्थ पर भाष्य करना चाहे उसका कर्तव्य है कि उस ग्रन्थ के जितने प्रमाणों के अर्थ ऋषि दयानन्द ने किये हैं वे अर्थ ही उस स्थान पर आवें तो अधिक शोभा है। दो तीन वर्ष से इस तालिका का निर्माण मैं कर रहा हूँ और यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होगा। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में दिये गये प्रमाणों के पते आदि के सम्बन्ध में किसी आर्य विद्वान् के पास जो सामग्री हो वह मुझे भेजदेवे। उन विद्वानों की परिषत् द्वारा ही वह 'दयानन्द प्रमाण प्रकाश' नाम का वृहद् ग्रन्थ प्रकाशित किया जायगा। इस तालिका के बनने के बाद प्रत्येक वैदिक ग्रन्थ पर भाष्य किये जावें और तब ही ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य पर महाभाष्य की रचना हो। इससे पूर्व जो भी कार्य होगा उसमें ऋषि की बातों से विरोध कहीं न कहीं आ ही जावेगा। यह मेरी निश्चित धारणा है। मैं नहीं चाहता कि आर्यजगत में किये हुए भाष्यों की ऋषि के साथ विरोध की मीमांसा करूँ। अस्तु

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए अन्त में हम अब तक बने समस्त उपनिषद् ग्रन्थों की एक बृहत् सूची अकारादि क्रम से देते हैं। प्रत्येक उपनिषद् का शाखा सम्प्रदायादि सम्बन्ध भी जो प्रचलित है दिखा दिया गया है। पाठकों के लिये यह सूची मनोरंजक होगी कि सत्य उपनिषदों के बाद संसार में कितनी उपनिषदों का निर्माण हो चुका है। इन शब्दों के साथ इस भूमिका को समाप्त करते हुए आर्यसमाज के विधाताओं और विद्वानों से प्रार्थना करूंगा कि वे विचार करें कि ऋषिवर ने जितने उपनिषदादि ग्रन्थों के प्रमाणों के जो अर्थ किये उनका कितना स्पष्टीकरण उन्होंने किया है और कितना अनुसरण उसका उन्होंने किया है।

वेदमन्दिर
९९ बाजार मोतीलाल
बरेली यू० पी०

आचार्य विश्वश्रवाः
वैदिक रिसर्चस्कालर

ओ३म्

उपनिषत् परिचय

उपनिषद् स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। जिस प्रकार भगवद्गीता महाभारत का एक भाग है इसी प्रकार उपनिषद् भी वेदों, वेदों की शाखाओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों या आरण्यकों के विशेष भाग ही हैं। यह ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय नहीं है प्रत्युत यजुर्वेद की काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है। स्वामी शंकराचार्य के काल में मूल वेद तथा उसकी शाखाओं में विवेक नहीं किया जाता था। स्वामी शंकराचार्य की दृष्टि में काण्वशाखा भी मूल यजुर्वेद ही था। अतः उन्होंने काण्व-शाखा के ही चालीसवें अध्याय को उपनिषद् के रूप में प्रचलित कर दिया। वास्तव में मूल यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय को ईशोपनिषत् के नाम से प्रचलित करना चाहिये था। सब उपनिषदों को मूलभूत ईशोपनिषत् है इसकी ही विशेष व्याख्या अन्य उपनिषद् हैं। यह श्रेय काण्व शाखा को न देकर सर्व विद्याकर मूल वेद को ही देना चाहिये था। किन्तु स्वामी शंकराचार्य की डाली हुई परम्परा को तोड़ने का साहस किसी को नहीं होता है। इस उपनिषत् को ईशोपनिषत् ईशावा-स्योपनिषत् वाजसनेयोपनिषत् आदि नामों से पुकारते हैं।

मूल यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय तथा काण्व शाखा के चालीसवें अध्याय में भेद

यजुर्वेद का मन्त्रांक	यजुर्वेद का पाठ	काण्व शाखा या उपनिषत् का पाठ	काण्वशाख या उपनिषत् का मान्त्रांक
३	प्रेत्यापिगच्छन्ति	प्रेत्याभिगच्छन्ति	३
६	न विचिकित्सति	न विजुगुप्सते	६
१३	अन्यदेवाहुर्विद्याया ऽ अन्यदाहुरविद्यायाः	अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया	१०
१७	हिरण्मयेन……योऽसावादित्ये पुरुषः सो ऽ सावहम् ओम् खं ब्रह्म ।	हिरण्मयेन…… तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये ।	१५
१५	ॐ क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतꣳ स्मर ।	ॐ क्रतोस्मर कृतꣳस्मर । क्रतो स्मर । कृतꣳस्मर	१७
	* यह मन्त्र मूल यजुर्वेद में नहीं है ।	* पूषन्नेकर्षे…… पुरुषस्सोऽहमस्मि यह मन्त्र काण्व शाखा में अधिक है ।	१६

— आचार्य विश्वश्रवा बरेली

* ओ३म् *

माण्डूक्योपनिषद्

का

हिन्दी अनुवाद

ब्रह्मविद्या में यह उपनिषद् सबसे अधिक और अद्वत-वादियों को प्रिय है। इस उपनिषद् पर गौड़पादाचार्यजी ने माण्डूक्यकारिका लिखी है, जो नवीन वेदान्त की मूल समझी जाती है। यद्यपि गौड़पाद की कारिका के दो पादों का अनुवाद प्रथम पेशकर दिया गया है; परन्तु यह आवश्यक मालूम पड़ता है कि इस उपनिषद् का शेष पादों के साहित अनुवाद पेश किया जावे। वेदान्त, विज्ञान के जाननेवालों के लिये उपनिषदों का अनुवाद भी इस पत्रिका में क्रम से निकलता रहेगा[1]।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥१॥

(शब्दार्थ) (ओꣳम्) परमात्मा। (इति) जो। (एतद्) यह। (अक्षरम्) नाश रहित है। (इदं) यह। (सर्वं) सब। (तस्य) इसका। (उपव्याख्यानं) प्रकाशित करनेवाली है। (भूतं) भूत। (भवत्) जो वर्त्तमान है। (भविष्यत्) जो आनेवाला है। (इति) जो। (सर्वम्) सब है। (ओंकार एव) ओंकार ही है। (यत्) जो। (च) और। (अन्यत्)

१—इस उपक्रमणिका का सम्बन्ध उपनिषद्-प्रकाश से कुछ नहीं।
—आचार्य विश्वश्रवाः

दूसरे। (त्रिकालातीतं) तीनों कालों से पृथक् सर्व व्यापक है। (तत्) वह। (अपि) भी। (ओंकार एव) ओंकार ही है।

(अर्थ) एक नित्य वस्तु ओ३म् ही है जो कुछ जगत् दृष्टि पड़ता है सब इसका प्रकाश करनेवाला ही है। भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् सब ओंकार ही है। तीनों कालों से परे जो ब्रह्म अथवा प्रकृति अथवा जीव जो सत् स्वरूप हैं, वह भी सब ओंकार ही हैं; क्योंकि शक्ति और शक्तिवाला दो नहीं होते। इसी प्रकार प्रकृति और जीव परमात्मा की शक्ति कहने से परमात्मा के साथ ही आ जाते हैं। परमात्मा एक ही है, अतः परमात्मा की प्रजा जीवात्मा और इसकी सम्पत्ति नित्य मिलकर ही परमात्मा बनती है; क्योंकि तीन अक्षर मिलकर ओ३म् बना है। इसी प्रकार तीन वस्तुओं से परमात्मा ओंकार कहाता है। यदि व्याप्य प्रकृति न हो तो परमात्मा को व्यापक अर्थात् आत्मा नहीं कह सकते। यदि शरीर में व्यापक जीवात्मा न हो, तो भी परमात्मा नहीं कह सकते। इसलिये ओंकार में ही सब आ जाता है, सब ओंकार की व्याख्या ही है। जैसे राजा की प्रजा और सम्पत्ति राजा के महिमा बतानेवाली होती है; इसी प्रकार जीव के असंख्य होने और प्रकृति के महत्ता से परमात्मा के गुणों का ही प्रकाश होता है। जो कुछ बीत चुका है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और मृत्यु परमात्मा की सत्ता का प्रकाश करती हैं। जो कुछ विद्यमान् है, उसकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश परमात्मा की सत्ता का प्रकाश कर रही हैं। जो आगे होगा, वह भी इसी काम को करेगा। निदान कार्य, कारण, प्रकृति और जीव से ओ३म् ही का प्रकाश होता है। इसलिये सब ओ३म् ही की महिमा समझनी चाहिये।

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ—(सर्वं) सब। (हि) निश्चय करके। (एतद्) यह। (ब्रह्म) परमात्मा है। (अयमात्मा) यह जो मेरे भीतर व्यापक है। (ब्रह्म) परमात्मा है। (सो) इसलिये। (अयमात्मा) आत्मा। (चतुष्पात्) चार भागों वाला है।

अर्थ—यह सब जगत जो कुछ दीख पड़ता है, ज्ञानियों की दृष्टि में ब्रह्म की शक्ति प्रकाश होने से ब्रह्म ही है। योगी समाधि की दशा में अपने भीतर देखता हुआ परमात्मा के आनन्द को अनुभव करके कहता है कि जो मुझ में व्यापक है, यह ब्रह्म ही है। सो यह आत्मा चार पाद वाला है। ज्ञानी पुरुष जब संसार में जगत के नियमानुकूल बनावट को देखता है, तो उसे विचार उत्पन्न होता है कि इसका सम्बन्ध ब्रह्म से है; जब स्वप्न की दशा में देखता है, तो वहाँ भी ब्रह्म की महिमा का पता लगता है। जो वस्तु जागृत दशा में देखी होती हैं, उनके संस्कार जो मन में स्थित हो चुके दीखते हैं। जब स्वप्न अवस्था गाढ़ निद्रा में सो जाता है तब भी ब्रह्म से ही आनन्द प्राप्त करता है, जिससे संसार में रहते हुए दुख दूर हो जाते हैं। जब मुक्ति में शरीर त्याग देता हैं तब भी ब्रह्म से आनन्द प्राप्त करता है। यह ब्रह्म के चार पाद हैं। दूसरी प्रकृति सत् है, जीव सत चित्त है ब्रह्म सच्चिदान्द और स्वतन्त्र है। यह सत चित्त आनन्द और स्वतंत्रता ब्रह्म के चार पाद हैं। अब उपनिषदकार इसको अपने शब्दों में बताते हैं।

जागरितस्थानो वहिष्प्रज्ञः सप्तांग एकोनिंविंशतिमुखःस्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—(जागरितस्थानः) जागने को दशा अर्थात् स्थूल शरीर जिसका स्थान है। (बहिष्प्रज्ञः) जिसकी बुद्धि बाहर की ओर काम करती है। (सप्तांग) सात जिसके अङ्ग हैं।

(एकोनविंशतिमुखः) उन्नीस जिसके मुख हैं। (स्थूलभुग्) जो स्थूल विषयों को भोगता है। (वैश्वानरः) जो सम्पूर्ण नरों के भोगने वाला है। (प्रथमःपादः) प्रथम पाद है।

अर्थ—अब ब्रह्म के चार पाद बताकर उसके विभाग बताते हैं, जिसमें जीव जागने की अवस्था में काम करता है। जिसकी बुद्धि बाहर की ओर लगी होती है, जिसके सात अंग और उन्नीस मुख हैं, जो स्थूल विषयों को भोगने वाला है, वह वैश्वानर नामवाला ब्रह्म का प्रथम पाद कहाता है।

प्रश्न—क्या निराकार चेतन्य के भी पाद हो सकते हैं ?

उत्तर—यद्यपि ब्रह्म के पाद हो नहीं सकते, परन्तु समझाने के लिए कल्पना करते हैं कि जीव की अवस्थाओं के विचार से ब्रह्म ज्ञान भी चार भागों में होता है। जिस समय जीव जागता है और अपनी बुद्धि को बाहर के विषयों की ओर लगता है ; जब जीव का सात अङ्गों और उन्नीस मुखों से सम्बन्ध होता है ; तब वह स्थूल शरीर का अभिमानी होने से स्थूल विषयों को भोगता है। इस दशा में जो किसी क्षण में जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध होता है ; उस ब्रह्म को वैश्वानर के नाम से उच्चारण करते हैं ; क्योंकि उस समय जगत के मनुष्य विषय भोग करते हुए ब्रह्म के आनन्द को विषयों का आनन्द विचार करते हैं, परन्तु वह आनन्द उत्तम आनन्द नहीं होता।

प्रश्न—जीव के १९ मुख कौन से है ?

उत्तर—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार यह सब जीव के मुख कहाते हैं ; क्योंकि जिस प्रकार मुख के द्वारा खाना खाते हैं, इसी प्राकार इन्द्रियों इत्यादि के विचार से जीव बाहर के सुखों को भोगता है। कभी उसको सुख अनुभव होता है, कभी दुख अनुभव होता है। यदि यह उन्नीस न हों, तो जीव बाह्य ज्ञान को प्राप्त नहीं हो सकता। केवल स्वाभाविक ज्ञान जो उसका नित्य है, वही उसको ज्ञान होता है।

प्रश्न—अन्य शास्त्रों में सत्रह सूक्ष्म शरीर माने गये हैं। उन्नीस यहाँ पर बताये हैं, इनका कारण क्या है; और सत्य कौन सा है?

उत्तर—इसमें अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं। एक मनन-वृत्ति, जब कि अन्तःकरण के द्वारा किसी वस्तु के होने न होने, सत्-असत्, सुख-दुःख के कारण इत्यादि होने का अन्वेषण करता है; उस दशा का नाम मन है। दूसरे, जब अन्तःकरण इन्द्रियों के साथ बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है, उसका नाम बुद्धि है। तीसरे, जब किसी वस्तु का चिन्तन करता है जैसे कोई मनुष्य सोचता है कि इस समय मेरे पास १०) रु० हैं, इससे व्योपार करके दश सहस्र कर लूँगा, पुनः एक लक्ष से एक बाटिका निर्माण कराऊँगा, इसमें सब देशों से एकत्र करके उत्तम-उत्तम फल पुष्पादि लगाऊँगा, फिर उन्हें आनन्द से खाऊँगा; इस प्रकार की दशा का नाम चिन्तन है। चौथे, जब अपनी सत्ता और उसके सम्बन्धी वस्तुओं को अपना जानता हुआ प्रकाश करता है, इस दशा का नाम अहंकार है। कतिपय आचार्यों ने मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार को एक मानकर, क्योंकि इनकी दशाओं में बहुत ही न्यून भेद है, एक स्वीकार कर लिया है, परन्तु वेदान्त शास्त्र ने जिसका उद्देश ही आत्मिक विद्या का प्रचार करना हैं, उस थोड़े से भेद से भी पृथकता प्रकट कर दी है, जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद विदित हो जावे।

प्रश्न—अन्तःकरण अर्थात् मन बुद्धि और चित्त, अहङ्कार नित्य हैं अथवा अनित्य?

उत्तर—इनके दो भेद हैं; एक शक्ति, दूसरे करण। शक्तियाँ सब जीवात्मा का स्वभाव (गुण) होने से नित्य हैं और कारण सब कार्य होने से अनित्य हैं।

प्रश्न—जबकि जीव की शक्तियाँ न्यूनाधिक होती हैं, जिनसे उनका विकार होना स्वीकार किया जाता है और जो वस्तु

विकार वाली होती है, वह उत्पन्न होनेवाली होती है ; अतः वह शक्तियाँ उत्पन्न होनेवाली होती हैं और शक्तियाँ जीवात्मा का स्वाभाविक गुण आपने स्वीकार किया है और विकारवाली नाशवान् हैं , इसलिये जीवात्मा भी कार्य और नाशवान् स्वीकार करना पड़ेगा।

उत्तर—जीवात्मा की शक्ति बढ़ती घटती नहीं, किन्तु उसके साधन अर्थात् कारण बढ़ते घटते हैं ; शक्ति का न्यूनाधिक जीव के विचार से होता है । अतः साधन और विचार में परिवर्तन है, न कि जीवात्मा की शक्ति में। यथा हम कभी तो बालकों के बल से तमाँचा मारते हैं, जब कि वह दोषी होते हैं और कभी प्रेम से बहुत हलका मारते हैं। क्या इन दोनों दशाओं में हमारी शक्ति में भेद होता है अथवा विचार में। इसी प्रकार कभी नेत्र सूर्य की रोशनी में देखता है और पर्वत पर से देखता है, तो पचास और सौ कोस के वृक्ष तथा मकान देख पड़ते हैं और दीप के प्रकाश में अथवा कूप के भीतर घुसकर देखते हैं, तो घर और कूप के बाहर की वस्तु भी नहीं देख पड़ती। क्या यह साधन की न्यूनाधिकता है ; अथवा नेत्र की शक्ति की ? अतः साधन परिवर्तन होने से अनित्य हैं और शक्तियाँ एक रस अर्थात् नित्य हैं। कर्मेन्द्रियों की शक्ति साधनों और विचार से और ज्ञानेन्द्रियों के साधनों से न्यूनाधिक मालूम होती है। वास्तव में वह एक रूप है, इसलिये कार्यरूप न होने से शक्ति उत्पन्न होनेवाली नहीं और न इन शक्तियों का भण्डार जीवात्मा उत्पन्न होनेवाला है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य जीव को माया का कार्य और अविद्या उपाधि से अथवा इस अन्तःकरण से मिला हुआ मानते हैं और अन्तःकरण के नाश से जीवात्मा का नाश स्वीकार करते हैं ?

उत्तर- यह ब्रह्मविद्या अथवा वेदान्तशास्त्र के अज्ञान के कारण है ; क्योंकि माया का कार्य अन्तःकरण उपाधि किसने

बनाया और किसके वास्ते बनाया। यदि कहो ब्रह्म ने अपनी माया से बनाया ; तो प्रश्न यह होता है कि ब्रह्म स्वाभाविक कर्ता है अथवा नैमित्तिक है। यदि कहो स्वाभाविक कर्ता है, तो जीव नित्य हो जावेगा, इसका नाश मानना अविद्या होगी ; क्योंकि ब्रह्म अपने स्वभाव से अन्तःकरण बनाता ही रहेगा और उस उपाधि से ढँपा हुआ होने से जीव भी बना रहेगा। यदि ब्रह्म नैमित्तिक कर्त्ता है, तो इरादा दो प्रकार का होता है। लाभदायक और अप्राप्ति वस्तु को प्राप्त करने का और हानिकारक प्राप्त वस्तु को नाश करने का। अब जिस वस्तु अर्थात् अन्तःकरण को ब्रह्म ने उत्पन्न करने का विचार किया वह उसके लिये लाभदायक होना आवश्यक है। लाभदायक वह वस्तु होती है, जो दोष को दूर करे अथवा त्रुटि को पूरा करे। अब ब्रह्म ने अपने किस दोष को दूर करने और किन कर्मों को पूरा करने के लिये अन्तःकरण बनाया, इसका पता नहीं लग सकता ; क्योंकि ब्रह्म में न तो कमी है और न कोई दोष है। जब अन्तःकरण के बनाने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती, तो विचार से यह कार्य उपाधि उत्पन्न नहीं हो सकती, जिससे जीव का उत्पन्न होना और नाश होना सम्भव हो अतः जीव को अनादि मानना ही ठीक है। जीव बिना अन्तःकरण के न तो अपने स्वरूप को जान सकता है और न प्रेम के आनन्द को प्राप्त करने के जो साधन हैं, वह कर सकता है। इसलिये जीवों के लिये माया से अपनी दया के कारण अन्तःकरण और सब जगत् बनाता है।

प्रश्न—ब्रह्म में अन्तःकरण के न होने से माया के गुणों को भोगने की शक्ति न थी, इसलिये उसने अन्तःकरण को बनाकर अपनी इस कमी को पूरा किया।

उत्तर—अन्तःकरण से सर्वज्ञ ब्रह्म अल्पज्ञ हो गया, जिससे ब्रह्म में दोष उत्पन्न हो गया और कोई काम दोष बढ़ाने को नहीं किया जाता। अतः यह विचार सत्य नहीं। दूसरे भोग, सुख,

दुःख बुद्धि का नाम है दुःख भोगने की तो किसी की इच्छा नहीं होती और सुख प्रकृति का गुण नहीं। इसलिये दुःख स्वरूप प्रकृति के गुणों के भोगने के योग्य न होना उत्तमता है; कमी नहीं। अतः उत्तमता को दूर करने और दोष को उत्पन्न करने के लिये कोई बुद्धिमान् मनुष्य भी काम नहीं करता, तो सर्वज्ञ ब्रह्म किस प्रकार कर सकता है। अतः ब्रह्म को जीव बनाना अपने को दोषी बनाना है, जो असम्भव है। ऐसी अविद्या ब्रह्म में नहीं आ सकती, जिससे वह आनन्दस्वरूप होकर दुःख भोगने की इच्छा करे, सर्वज्ञ होकर अल्पज्ञ बन जावे; क्योंकि ऐसा मानना वेद विरुद्ध है, इसलिये सत्य नहीं। दूसरे ब्रह्म ने अन्तःकरण किससे बनाया? यदि कहो माया से, तो माया गुण है, अथवा द्रव्य और नित्य है अथवा अनित्य। यदि कहो नित्य है, तो अद्वैत सिद्धान्त गिर गया; क्योंकि ब्रह्म के साथ माया भी नित्य हो गई। यदि कहो अनित्य है, तो उसको ब्रह्म ने किससे बनाया। यदि माया का उपादान कारण कुछ और बताना होगा, तो इसके सम्बन्ध में भी यही शंका होगी। यदि माया को ब्रह्म का गुण मानकर अद्वैत बताओगे, तो गुण से गुणी उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये संसार में एक भी उदाहरण नहीं मिल सकता, जहाँ गुण से गुणी उत्पन्न होना दृष्टि पड़े।

प्रश्न—क्या तुम ब्रह्म को अद्वैत नहीं मानते?

उत्तर—हम ब्रह्म को अद्वैत इस प्रकार मानते हैं कि वह नित्य है। उसका ऐश्वर्य प्रकृति अथवा माया भी नित्य है। किसी स्वामी की सम्पत्ति उसको मिल नहीं सकती; इसलिये प्रकृति की विद्यमानता में उसका स्वामी ब्रह्म अद्वैत ही बना रहता है। दूसरे जो ब्रह्म राजा है, जीव उसकी प्रजा है। किसी राजा को प्रजा भी उसके समान नहीं कही जा सकती, किन्तु सम्पत्ति और प्रजा राजा को वास्तव में राजा सिद्ध करने वाली होती है। नहीं तो बिना सम्पत्ति और प्रजा के राजा शतरंज के खेल से अधिक क्या मान रख सकता है। यदि

राजा नित्य होगा, तो उसकी सम्पत्ति और प्रजा भी नित्य होगी। जिसकी सम्पत्ति और प्रजा नित्य न हो, वह बनावटी राजा होगा। चाहे वह राज्य उसने स्वयम् उत्पन्न किया हो; परन्तु नित्य राजा कभी नहीं होगा।

प्रश्न—यह सब विद्वानों का एक सिद्धान्त है कि ब्रह्म सजाति, विजाति और स्वगत भेद से शून्य है। यदि जीव प्रकृति को ब्रह्म से अलग सत् माना जावे, तो विजाति भेद तो मौजूद रहा, जिससे सिद्धान्त बिगड़ जाता है।

उत्तर—प्रथम तो ब्रह्म में जाति ही नहीं, क्योंकि जाति बहुतों में होती है और ब्रह्म एक है। इसमें जाति का लक्षण पाया नही जाता। दूसरे जाति का चिह्न आकृति है और ब्रह्म निराकार है; इसलिये इसमें जाति मौजूद नहीं। जब ब्रह्म में जाति नहीं, तो समान जाति और पृथक जाति हो नहीं सकती। तीसरे विजाति का अर्थ यहाँ पृथक जाति नहीं, किन्तु विरुद्ध जाति है और जीव प्रकृति ब्रह्म की प्रजा और सम्पत्ति है, इस कारण विरुद्ध है; नहीं तो विजाति वस्तु किस प्रकार हो सकती है?

प्रश्न—सात अङ्ग कौन से हैं?

उत्तर—अग्नि इसका शिर, चन्द्र-सूर्य नेत्र, वायु-प्राण, वेद उसकी वाणी अथवा रसना, दिशा-श्रोत्र, आकाश नाभि, पृथिवी पाँव हैं।

प्रश्न—अग्नि को शिर और पृथिवी को पाँव क्यों कहा?

उत्तर—अग्नि सतोगुणी होने से सबसे ऊपर का भाग अर्थात सिर है अर्थात सतोगुण जीव मनुष्य जाति का सिर अर्थात सबसे उच्च है और पृथिवी तमोगुण है और पाँव सबसे नीचे हैं। इस कारण बताया कि तमोगुणी जीव सबसे नीचे हैं, रजोगुणी और श्रोत्र मध्यम हैं।

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्तांग एकोन-

विंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—(स्वप्नस्थानः) स्वप्न अवस्था। (अन्तः प्रज्ञः) भीतर की ओर है बुद्धि जिसकी। (सप्ताङ्गः) सात अङ्ग हैं जिसके। (एकोनविंशतिमुखः) उन्नीस जिसके मुख हैं। (प्रविविक्तभुक्) बाह्य विषयों के न होने पर भोगनेवाली है। (तैजसः) तैजस नाम वाला आत्मा। (द्वितीयः पादः) दूसरा पाद है।

अर्थ—जिस अवस्था में जीवात्मा स्वप्न देखता है, उस समय उसकी बुद्धि अर्थात् मन के जाननेवाली वृति अथवा इसका स्वाभाविक ज्ञान संसार के बाह्य विषयों से सम्बन्ध न रखता हुआ सात अंगों और उन्नीस मुखों से जिनका उपर्युक्त वर्णन हुआ, उन्हीं पदार्थों को भोगता है कि जिनके संस्कार जागने की दशा में मन पर पड़ गये हैं। इस अवस्था में इसका नाम तैजस कहलाता है और यह दूसरा पाद है।

प्रश्न—क्या स्वप्न अवस्था में वही पदार्थ दृष्ट पड़ते हैं; जिनके संस्कार जागने की अवस्था में पड़ गये हैं, अथवा अन्य वस्तु भी दृष्टि पड़ सकती है ?

उत्तर—जागृत अवस्था में तो जीवात्मा बाह्य पदार्थों के फ़ोटू उतारता है। जिस प्रकार फ़ोटूग्राफर के कैमरे में दो शीशा होते हैं, एक बाहर का शीशा दूसरा भीतर का और प्रकाश की किरणें उस वस्तु के प्रतिबिम्ब को प्रथम शीशा पर डालती हैं, तो वह उलटा पड़ता है। जब दूसरे शीशा पर जाता है, तो सीधा हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा फ़ोटूग्राफर के लिये परमात्मा ने यह मनुष्य का शरीर कैमरा बना दिया है। जिसके बाहर के शीशा तो इन्द्रियाँ हैं और भीतर का शीशा मन है। इन्द्रियों का सहायक प्रकाश उनके विषय का फ़ोटू इन्द्रियों पर डालता है, जिससे वह उल्टा होता है, और मन पर जाकर

सीधा हो जाता है। जब जीवात्मा बाहर के शीशों को बन्द कर देता है, तो नवीन फोटू उतरने बन्द हो जाते हैं। केवल जो कुछ फोटू में उतरा हुआ है, उसीको देखता है। जो वस्तु बाहर न होगी, उसका चित्र शीशा पर नहीं आ सकता। जो चित्र शीशा पर न हो, उसको कैसे देख सकते हैं। अतः स्वप्न में वही जाना जाता है जोकि जागृत अवस्था में देखा हुआ होता है। अतिरिक्त जागृत के देखे हुए संस्कारों के स्वप्न में कुछ भी नहीं आ सकता। जागृत जीवात्मा के फोटू खींचने की अवस्था का नाम है और स्वप्न उन फोटू के देखने का नाम है।

प्रश्न—हम बहुत सी वस्तुएँ स्वप्न में देखते हैं कि जिनको हमने जन्म भर में कहीं नहीं देखा?

उत्तर—यदि इसी जन्म के संस्कार मन में होते, तो यह कहना ठीक था; परन्तु मन में सहस्रों जन्मों के संस्कार विद्यमान होते हैं, जो वस्तुतः हमारी देखी हुई वस्तुओं के प्रतिविम्ब होते हैं, परन्तु अल्पबुद्धि हम समझते हैं कि वह हमारी देखी हुई नहीं। वास्तव में जब जीव मुक्ति से लौट कर योनिज सृष्टि में आता है, तब उसको नवीन मन मिलता है और इस समय से लेकर अब तक जितने जन्म व्यतीत हुए हैं, सबके संस्कार हमारे भीतर प्रस्तुत हैं; जिसको योगी जन जानते हैं, परन्तु दूसरों को ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—क्या कारण है कि हमारे भीतर जो संस्कार विद्यमान हैं, उनको भी हम नहीं जानते और योगी किस प्रकार जानते हैं?

उत्तर—यदि तुम एक खत्ता में दो फुट गेहूँ (गोधूम) भर दो, उसके ऊपर दो फुट चने डाल दो, उसके ऊपर दो फुट यव डाल दो, उसके ऊपर दो फुट मकाई, इसी प्रकार बीस भाँति के अन्न इस खत्ते में भर दो। फिर ऊपर से देखो तो सबसे पीछे जो चावल डाले हैं वही दृष्टि पड़ेंगे। नीचे वाले सब अन्न मौजूद होते हुए भी दृष्टि नहीं आवेंगे। यही संस्कारों की

अवस्था है। जो समीप के होते हैं, वह स्मरण रहते हैं; जितनी देर होती है, वह नवीन पड़ने वालों के नीचे दब जाते हैं; जिसको सब मनुष्य अनुभव नहीं कर सकते; जो खोदकर देखता है, उसको मालूम होते हैं। योगी का मन और विचार-शक्ति ठीक होती है, इस कारण वह इन संस्कारों को मालूम कर सकता है। जैसा कि महात्मा कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि—"हे अर्जुन! मेरे तेरे बहुत से जन्म व्यतीत हुए हैं; परन्तु मैं उन जन्मों को जानता हूँ और तू नहीं जानता।

प्रश्न—बुद्धि स्वीकार नही करती कि योगी का ज्ञान इतना बढ़ जावे? यद्यपि हम गीतादि अवलोकन करते हैं, विद्वानों से श्रवण करते हैं; परन्तु बिना युक्ति मानने को उद्यत नहीं।

उत्तर—जिस प्रकार गंगा एक धारा में बहती है, तो इसमें यह शक्ति होती है कि बड़े-बड़े मकानों को बहा ले जाती है; परन्तु जब उस गङ्गा में नहरों के द्वारा छोटी नालियाँ कर दी जाती हैं, तो वह एक ईंट को भी बहा नहीं सकती। ऐसे ही जब मन का भाव वृत्तियों के एकत्र होने से एक ओर चलता है, तो बड़े-बड़े पदार्थों का ज्ञान हो सकता है, सूक्ष्म तथा दूर की वस्तु को जान सकता है; परन्तु जब मन-वृत्ति फैल जाती है, तो उसकी शक्ति न्यून हो जाती है।

प्रश्न—जबकि मन भी आत्मा से बाहर है, तो उसका भीतर स्थान क्यों बताया?

उत्तर—इन्द्रियों की अपेक्षा मन भीतर है अर्थात इन्द्रियाँ बाहर का शीशा और मन भीतर का शीशा है। इस कारण भीतर स्थान में बुद्धि का काम करना बताया।

प्रश्न—जागृत और स्वप्न अवस्था में क्या अन्तर है?

उत्तर—हम ऊपर कथन कर आये हैं, कि जागृत अवस्था में बाहर की वस्तुओं का फोटू लेता और उससे दुःख-सुख अनुभव करता है और स्वप्न अवस्था में बिना बाहर की वस्तु होने के भीतर ही फोटू को देखता है और इससे

दुःख-सुख मानता है। अतः जीव की इस अवस्था को जो जब बाहर के विषय की उपस्थिति में सुख-दुख को अनुभव करता है, वैश्वानर कहते हैं और जब बाहर के विषयों की अनुपस्थिति में सुख दुख को भोगता है, उस समय तैजस कहाता है।

प्रश्न—स्वप्न में जिन वस्तुओं को भोगते हैं, उसमें तो प्रभाव शरीर पर भी पड़ जाता है; लेकिन फोटू के देखने की दशा में प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता?

उत्तर—यदि कभी स्वरूपवान का फोटू देखते हैं, तो प्रसन्नता, और निकृष्ट आकृति का फोटू देखने घृणा से उत्पन्न होती है। सहस्रों मनुष्य फोटू देखने से ही मस्त हो गये। इस कारण जो प्रभाव स्वप्न से शरीर पर मन के द्वारा पड़ता है, वही फोटू के देखने से भी पड़ता है।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतःप्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयःपादः ॥५॥

शब्दार्थ—(यत्र) जिस अवस्था में। (सुप्तः) सोया हुआ। (न) नहीं। (कञ्चन कामं) किसी कामं को। (कामयते) इच्छा करता है। (न) नहीं। (कञ्चन) कोई। (स्वप्नं) स्वप्न। (पश्यति) देखता है। (तत) वह। (सुषुप्तम) सुषुप्ति की अवस्था है। (सुषुप्तस्थानः) उस स्थान पर। (एकीभूतः) समस्त ज्ञान एकत्रित होकर। (प्रज्ञान घनः) अँधेरी रात्रि की भाँति विवेक रहित ज्ञान। (एव) ही। (अनन्दमयः) आनंद युक्त। (आनन्दभुक्) आनन्द को भोगता है। (चेतोमुखः) केवल स्वाभाविक ज्ञान ही जिसका मुख है। (प्राज्ञः) प्राज्ञ नामवाला। (तृतीयःपादः) यह तीसरा पाद है।

अर्थ—जब यह जीवात्मा बाहर के ज्ञान से पृथक होकर ऐसी अवस्था में चला जाता है, जहाँ उसकी कोई इच्छा शेष नहीं रहती और न किसी प्रकार का स्वप्न देखता है अर्थात् पूर्व देखे हुए ज्ञान का भी कुछ प्रभाव शेष नहीं रहता अर्थात् बाहर के ज्ञान से निःसम्बन्ध होकर और बाहर के ज्ञान के कारण इन्द्रियों और मन के सम्बन्ध को त्यागकर जब जीव भीतर को ओर लग जाता है, उस अवस्था का नाम सुषुप्ति है। उस अवस्था में सब बाह्य ज्ञानों के दूर हो जाने से, विवेक से रहित ज्ञान ; जैसे अँधेरी रात में नेत्र लाल काले रूप के विवेक से रहित होकर अँधेरा ही अँधेरा देखते हैं; इसी प्रकार जोवात्मा भीतर देखता है, उस समय एक ही दृष्टि आता है और आनन्द स्वरूप परमात्मा के आनन्द को जो बाहर की ओर लग जाने से दूर हो गया था भोगता है। उस समय भोगने का साधन केवल स्वाभाविक ज्ञान जो जीवात्मा का जातीय गुण है, प्रस्तुत होता है। कोई अन्य यन्त्र मन इत्यादि नहीं होता। इस अवस्था में जीव का नाम प्राज्ञ होता है। यह तीसरा पाद है।

प्रश्न—क्या स्वप्न की दशा में जीवात्मा आनन्द भोगता है ?

उत्तर—अवश्य, तीन दशाओं में जीव को ब्रह्म का गुण आनन्द मिलता है। एक समाधि की अवस्था में, दूसरे सुषुप्ति की अवस्था में, तीसरे मुक्ति अवस्था में। अतएव महर्षि कपिलजी सांख्यदर्शन में लिखते हैं—"समाधि-सुषुप्ति-मोक्षेषु ब्रह्म रूपिता।" (सांख्य ५ अ० ११६ सू०) अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति इन तीन अवस्थाओं में सत् चित् स्वरूप आत्मा ब्रह्म के गुण नैमित्तिक आनन्द से ब्रह्मरूपता अर्थात् सच्चिदानन्द अवस्था को प्राप्त होता है ; अर्थात् उस अवस्था में जीव भी सच्चिदानन्द कहाता है। जैसे लोहे का गोला अग्नि में पड़ने से उष्ण होकर अग्नि के गुण वाला हो जाता है, तो उसमें अग्नि का गुण जलाना इत्यादि मौजूद होते हैं ; परन्तु अपने गुण भार इत्यादि भी उपस्थित रहते हैं।

इसी प्रकार जीव में ब्रह्म का गुण आनन्द आ जाता है ; परन्तु उसका अपना गुण अल्पज्ञता भी मौजूद होती है। जिस प्रकार अग्नि रूप लोहे के गोले को अग्नि कह सकते हैं; ऐसे ही समाधि की अवस्था में जीव को ब्रह्म भी कह सकते हैं ; परन्तु वह कहना उपचार से होता है ; वास्तव में नहीं।

प्रश्न—समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति के स्वरूप में क्या अन्तर है ?

उत्तर—जब ज्ञान सहित और शरीर सहित ब्रह्म का जीव से सम्बन्ध होता है, उस अवस्था का नाम समाधि है और जब शरीर सहित और ज्ञान रहित जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध हो, उस अवस्था का नाम सुषुप्ति है और शरीर रहित और ज्ञान सहित जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध हो, उस अवस्था का नाम मुक्ति है।

प्रश्न—क्या स्थूल शरीर की विद्यमानता में ब्रह्म से जीव का सम्बन्ध हो सकता है ?

उत्तर—जब तक स्थूल शरीर का जीव को अभिमान है, तब तक तो ब्रह्म से सम्बन्ध हो नहीं सकता ; परन्तु समाधि और सुषुप्ति में जब अभिमान नहीं रहता, तो ब्रह्म से संम्बन्ध हो जाता है , क्योंकि जीव को वाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध कराने वाला अहंकार ही है, और समाधि, सुषुप्ति की दशा में अहंकार विद्यमान नहीं होता। जब अहंकार न हो, तो उसका प्रकृति से सम्बन्ध नहीं हो सकता। जब प्रकृति से सम्बन्ध नहीं, तो ब्रह्म के साथ सम्बन्ध अवश्य होगा ; क्योंकि चेतन जीवात्मा बिना सम्बन्ध के नहीं रहता।

प्रश्न—क्या सुषुप्ति में ज्ञान रहता है ; जिससे वह आनन्द भोगता है ?

उत्तर—जीवात्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञान है, वह जीव से किस प्रकार पृथक हो सकता है। जिस प्रकार अग्नि से उष्णता का पृथक होना असम्भव है, ऐसे ही जीव से ज्ञान का पृथक होना भी असम्भव है। यदि बाहरी ज्ञान के साधन

होंगे, तो बाहर की चीज़ों को जानेगा ; यदि साधन न होंगे तो अन्दर की चीज़ों को जानेगा । अतः जब जाग उठता है, तो कहता है कि आज मैं सुख से सोया । जिससे स्पष्ट विदित होता है कि उसको इस बात का ज्ञान था कि सुख है । यद्यपि बाहरी पदार्थों से बे-ख़बर होता है ; परन्तु ज्ञान से शून्य नहीं ।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य कहते हैं कि सोने से समय ज्ञान नहीं होता । जब जागकर देखता है, तब कहता है ; क्योंकि जागने से पूर्व कोई नहीं कहता ।

उत्तर—यदि ऐसा स्वीकार किया जावे, तो मूर्खता ही कहलावेगी ; क्योंकि जिस समय ज्ञान नहीं था, उस समय सुख था और जब ज्ञान हुआ, तब सुख नहीं । तब सुख से सोने को किस प्रकार प्रकट कर सकते हैं । ऐसा कहने वाले महाशय सुख के स्वरूप से भी अनभिज्ञ हैं ; क्योंकि सुख-दुःख दोनों बुद्धि अर्थात् ज्ञान हैं । यदि ज्ञान न हो, तो सुख कह ही नहीं सकते ।

प्रश्न—फिर योगदर्शन में क्या लिखा है कि ज्ञान की अभाव वृत्ति का नाम निद्रा है । क्या पतञ्जलि को भी सुख का स्वरूप विदित नहीं था ?

उत्तर—योगदर्शन के कर्त्ता का आशय बाह्य ज्ञान से है, अतः निद्रा की अवस्था में बाहरी ज्ञान का अभाव होता है ।

प्रश्न—इसका क्या प्रमाण है कि बाहर का ज्ञान नहीं होता और भीतर का ज्ञान होता है ?

उत्तर—प्रथम तो जीवात्मा का चेतन होना ही इसका प्रमाण है ; क्योंकि चेतन किसी समय भी ज्ञान से शून्य नहीं रह सकता । द्वितीय, सुषुप्ति में सुख होना भी इस बात का प्रमाण है कि सुखानुकूल ज्ञान का नाम है । तृतीय, जागकर यह कहना कि आज ऐसा सुख से सोया कि कुछ ख़बर भी नहीं रही ; जिससे स्पष्ट विदित है कि बाहर की तो बेख़बरी थी

और सुख की सुधि थी। अब जीव की तीनों अवस्थाओं का कथन करके जिससे भीतर जाकर जीव समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति में आनन्द को प्राप्त होता है, उस ब्रह्म का कथन करते हैं।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

शब्दार्थ—(एषः) यह। (सर्वेश्वरः) सबका स्वामी। (एषः) यही। (सर्वज्ञः) सब कुछ जाननेवाला। (एषः) यह। (अन्तर्यामी) सबके भीतर रहकर नियमाकूल चलानेवाला। (एषः) यही। (योनिः सर्वस्य) सब जगत् का कारण। (प्रभवाप्ययौ) उत्पन्न होने, सुख पाने। (भूतानाम्) भूतों के।

अर्थ—यह परमात्मा सबका स्वामी है, जो सबके कर्मों को जाननेवाला है, जो सर्व व्यापक होकर सबको नियमानुकूल चला रहा है। यही सबका निमित्त कारण है और अपने ऐश्वर्य से ही कुल जगत् को बनाता है और सम्पूर्ण जीव उससे सुख पाते हैं। जब जीव अपनी तीन दशाओं से पार होकर भीतर जाकर परमात्मा के दर्शन करता है, तब उसको परमात्मा के आनन्द की प्राप्ति होती है। तब वह यह कहता है कि यह जो मेरा अन्तर्यामी है, यही सबका स्वामी, यही सबका ज्ञाता, यही सब जगत् को अपनी सामग्री से उत्पादक है। इससे सबको आनन्द प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न—प्रायः मनुष्य कहते हैं कि सुषुप्ति अवस्था का आभमानी जो जीवात्मा है, वही सर्वज्ञ ईश्वर इत्यादि है।

उत्तर—ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि उस दशा में किसका अन्तर्यामी होगा। सुषुप्ति की दशा में भी अन्तर्यामी होना आवश्यक है, उस समय किसका अन्तर्यामी होगा; क्योंकि

बाहर के विषयों से तो कोई सम्बन्ध नहीं। अतः सुषुप्ति को दशा में जीव का अन्तर्यामी है। पूर्व तो यह सन्देह हो सकता था कि आनन्द बाहरी विषयों से मिलता है। जागृत में बाहरी विषय और स्वप्न में उसका प्रतिबिम्ब आनन्द का कारण कह सकते थे। अतः सुषुप्ति की दशा में न तो बाहर के विषय ही प्रस्तुत हैं, न उनका प्रतिबिम्ब प्रस्तुत है। अब जिससे जीव आनन्द को प्राप्त होता है, वह कोई बाहरी वस्तु नहीं, किन्तु वह भीतर वास करनेवाला है। उसी के यह लक्षण प्रकट किये हैं।

प्रश्न—यहाँ तो ओंकार जो परमात्मा है उसके चार पाद बताये हैं, जिससे जीव ब्रह्म का अभेद प्रकट किया है; तुम और ही ओर चल रहे हो।

उत्तर—आत्मा शब्द का अर्थ है व्यापक। उसकी जो चार सीढ़ियाँ हैं, वह आत्मा के चार पाद हैं। पहले जागृत अवस्था में जिस स्थूल शरीर का अभिमानी जीवात्मा है, उसके भीतर जो व्यापक है, वह सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म होने से उसमें व्यापक कारण शरीर है, कारण शरीर से सूक्ष्म होने के कारण व्यापक जीवात्मा है और जीवात्मा से सूक्ष्म होने के कारण व्यापक परमात्मा है। जो मनुष्य आत्मज्ञान के तीन मार्गों को व्यतीत करके चौथे मार्ग में पहुँचते हैं, तो उनको जीवात्मा अर्थात् अपने भीतर परमात्मा के दर्शन होते हैं और उससे वह आनन्द को प्राप्त करके कहते हैं कि यह जो मुझमें व्यापक है वह ब्रह्म है। तीन मार्गों में तो जीव व्यापक है, चौथे मार्ग में जीव व्याप्य और ब्रह्म व्यापक है। यद्यपि जीव ब्रह्म में कोई दूरी नहीं होती। इस कारण अभेद कहते हैं। यथा नेत्र में अंजन है; अब नेत्र और अंजन में दूरी नहीं; क्योंकि दूरी तीन प्रकार की होती है, एक देश की, दूसरे काल की, तीसरे ज्ञान की दूरी। नेत्र और अंजन, देश और काल की दूरी से तो पृथक् होने से केवल ज्ञान की दूरी है। जब

जीवात्मा अपने ज्ञान को बाहर की ओर से हटाकर भीतर देखता है, तब ज्ञान की दूरी भी दूर हो जाती है। इसी दूरी के दूर करने का नाम अभेद ज्ञान है ; न कि जीव ब्रह्म को एक मानने का।

प्रश्न—जीव ब्रह्म के दो होने में क्या प्रमाण हैं ?

उत्तर—वेदान्तशास्त्र में जीव ब्रह्म के दो होने में इतने प्रमाण दिये हैं कि जिससे किसी मूर्ख को भी इनका एक होना मालूम नहीं होता। प्रथम, ब्रह्म का लक्षण सच्चिदानन्द ही इस बात का प्रमाण है। द्वितीय, ब्रह्म का जीव के भीतर होना जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् की श्रुति से प्रकट होता है। तृतीय, ब्रह्म के चार पाद होना। चतुर्थ, वेदान्त के सूत्रों में स्थान-स्थान पर व्यासजी का यह बताना कि श्रुति ने जीव ब्रह्म का भेद बताया है, जिसको हम वेदान्त दर्शन के भाष्य में प्रकट कर चुके हैं। इस कारण अभेद पाद का तात्पर्य इतना ही है कि जीव ब्रह्म में दूरी नहीं ; जिसके लिये किसी पैग़म्बर (दूत) की आवश्यकता पड़े ; किन्तु अन्तःकरण के दर्पण को शुद्ध करके भीतर देखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—ब्रह्म के लिये इतने विशेषण क्यों दिये ?

उत्तर—पहले कहा यह ब्रह्म सबका स्वामी अथवा ईश्वर है ; परन्तु वेदान्तदर्शन में मुक्त जीव का नाम भी ईश्वर स्वीकार किया गया है, फिर जीव को अल्पज्ञ समझकर सर्वज्ञ बताया, फिर शंका हुई कि मनुष्य योगियों को भी सर्वज्ञ कहते हैं। इस कारण अन्तर्यामी कहा ; क्योंकि किसी जीव के भीतर कोई दूसरा जीव नहीं जा सकता। यदि अन्तर्यामी शब्द न देते, तो उपाधिकृत भेषवालों का मत बन सकता था ; परन्तु श्रुति ने अन्तर्यामी शब्द देकर जीव ब्रह्म को एक माननेवालों को गढ़े ही में गिरा दिया। यहाँ तक कि आनन्दगिरि जैसे अद्वैतवादियों को मानना पड़ा कि किसी दूसरे के भीतर प्रवेश होकर नियमानुकूल चलाने की सामर्थ्य नहीं। फिर इस बात को

स्वीकार करने के लिये सारे जगत् का कारण बता दिया, जिससे किसी को जीव-भ्रम न रहे ; क्योंकि वेदान्तदर्शन में स्थान-स्थान पर सिद्ध कर दिया है कि जीव अथवा प्रकृति जगत् कर्त्ता नहीं। इसके पश्चात् यह कहकर कि उससे आनन्द को प्राप्त करते हैं। अतः आनन्द स्वरूप तो अतिरिक्त ब्रह्म के कोई भी नहीं। जिस पर वेदान्त के प्रथम पाद में अत्यन्त सबल विचार किया गया है। क्या इन विशेषणों को देखकर भी जीव ब्रह्म के एक होने का ख्याल रह सकता है ? निस्संदेह जो नेत्रों में पट्टी बाँधकर इसको देखते हैं, तो इसका उपाय क्या हो सकता है ? अब उस ब्रह्म को जीव से पृथक् करते हैं।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेका — त्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

शब्दार्थ—(नान्तःप्रज्ञं) भीतर की ओर ज्ञान नहीं। (न बहिःप्रज्ञं) बाहर बुद्धि नहीं जाती है। (नोभयतःप्रज्ञं) न दोनों ओर भीतर बाहर बुद्धि जाती है। (न प्रज्ञानघनं) न अंधेरे की ओर एक ही ज्ञान होता है। (नः) नहीं (प्रज्ञं) प्राप्त किया हुआ ज्ञान। (न) नहीं। (अप्रज्ञं) ज्ञान की जड़ता। (अदृष्टम्) नेत्रों के देखने योग्य नहीं (अव्यवहार्यम्) व्यवहार दशा से रहित। (अग्राह्यम्) पकड़ने योग्य नहीं। (अलक्षणम्) जिसका लक्षण इन्द्रियों से जाना नहीं जाता। (अचिन्त्यम्) मन की कल्पना शक्ति जिसकी सीमा को नहीं पा सकतीं। (अव्यपदेश्यम्) जो किसी नाम के कहने से ध्यान

में नहीं आता। (एकात्मप्रत्ययसार) जिसको एक आत्मा ही जानने का अधिकारी है। (प्रपंचोपशमं) बाहर पंच भौतिक ज्ञान से एक होकर। (शान्तं) जो शान्त अर्थात् विक्षेप रहित है। (शिवम्) जो कल्यालकारी और शरीर, मन और प्राणों के धर्म से रहित। (अद्वैतं) अनुपम। (चतुर्थं) चौथा। (मन्यन्ते) विचार करते या मानते हैं। (सा आत्मा) वह परमात्मा है। (सः) वह। (विज्ञेयः) जानने योग्य है।

अर्थ—परमात्मा सबसे सूक्ष्म है, इस कारण इसके भीतर कोई पदार्थ नहीं। अतः वह भीतर किसको देख सकता है, जिससे उसको भीतरी ज्ञान हो और परमात्मा के सर्व व्यापक होने से उससे कोई वस्तु बाहर नहीं, जिसको वह बाह्य ज्ञान के द्वारा देखे और बाहरी बुद्धि को प्राप्त करे और जब उसके भीतर बाहर कुछ नहीं, तो दोनों ओर जानेवाली बुद्धि भी उसकी नहीं हो सकती और न अँधेरे में केवल उसको अँधेरा ही दृष्टि पड़ता है, जिसको एक ही प्रकार का ज्ञान कहा जावे और न उसे नैमित्तिक ज्ञान होता है और न कोई वस्तु ऐसी है जिसको वह न जानता हो; क्योंकि उसको पूर्व सर्वज्ञ बता चुके हैं। अतः वह क्या है, जो इन्द्रियों से नहीं जाना जाता? नाम रूप के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से उसमें व्यवहार दशा नहीं हो सकती। उसका कोई लक्षण ही ऐसा नहीं हो सकता, जो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो सके। मन से कितना ही विचार किया जावे, उसके अनन्त गुणों की सीमा नहीं। वह ऐसी आकृति नहीं कि जो केवल नाम लेने से ही उसका स्वरूप स्मरण हो जावे। उसको केवल जीवात्मा ही जान सकता है। जबकि इन्द्रियों से अनुभव होने योग्य बाह्य वस्तुओं से मन को पृथक् कर ले और उपासना के द्वारा चंचल मन को शान्त और स्थिर करे, वह कल्याणकारक क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, बुढ़ापा, मौत से रहित और अनुभव है; जिसके समान कोई नहीं हुआ है,

न होगा, उसको चतुर्थ पाद मानते हैं। वही इसके जीव के भीतर बास करनेवाला आत्मा है, वही जानने योग्य है जो इसको नहीं जानता, वह अपने जन्म को नष्ट करता है।

प्रश्न—जबकि वेद ने यह बताया है कि जो मनुष्य सब भूतों को आत्मा के भीतर देखता है और सबके भीतर आत्मा को देखता है; इससे स्पष्ट विदित है कि सब आत्मा के भीतर हैं, तो उसको भीतर का ज्ञान आवश्यकीय है और जब वह सबके भीतर है, तो सब उससे बाहर हैं। इस कारण बाहर का ज्ञान भी अवश्य चाहिये। फिर श्रुति ने क्यों कहा कि वह भीतर बाहर के ज्ञान से रहित है?

उत्तर—भीतर के कहने से आशय परमात्मा से सूक्ष्म कोई नहीं, जिसको भीतर देखने की आवश्यकता हो। जैसे जीव को भीतर जाकर परमात्मा के दर्शन की आवश्यकता है। बाहर कहने से यह आशय है कि वह एक देशी नहीं, जिसको बाहर की वस्तुओं के देखने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता हो। दूसरी बात यह है कि जीवात्मा को नैमित्तिक ज्ञान होता है, परमात्मा को न भीतर का न बाहर का ही नैमित्तिक ज्ञान होता है।

प्रश्न—जबकि ब्रह्म अदृश्य अर्थात् देखने योग्य नहीं, तो बृहदारण्यकोपनिषद् में क्यों लिखा है कि—हे मैत्रेय! आत्मा ही देखने सुनने योग्य और मनन करने योग्य है।

उत्तर—आत्मा इन्द्रियों से अनुभव नहीं होता, इस कारण अदृष्ट कहा है; परन्तु मन से उसका प्रत्यक्ष होता है। इस कारण देखने योग्य कहा है। केवल थोड़ा सा विचार करने से विदित होता है कि दोनों श्रुतियों में विरोध नहीं।

प्रश्न—परन्तु उपनिषद् में बताया है कि वह मन से चेतन नहीं किया जाता; फिर उसका मन से प्रत्यक्ष मानना भी युक्ति से ठीक नहीं मालूम होता; क्योंकि श्रुति इसका खण्डन करती है।

उत्तर—कठोपनिषद् की श्रुति में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि वह परमात्मा मन ही से जाना जाता है। वास्तव में मन की दो दशाएँ हैं। एक मल विक्षेप और आवरणदोष से रहित मन, दूसरे इन दोषों

से युक्त मन। जो श्रुति कहती है कि परमात्मा मन से नहीं जाना जाता, उसका आशय मल विक्षेप और आवरण दोषयुक्त मन से है और जो श्रुति कहती है कि परमात्मा मन से जाना जाता है, उसका आशय मल विक्षेप आवरण दोष से रहित मन से है। यदि परमात्मा का ज्ञान किसी भाँति न हो, तो उसकी सत्ता ही किस प्रकार स्वीकार की जावे।

प्रश्न—मल दोष किसे कहते हैं?

उत्तर—मन में जो दूसरों को हानि पहुँचाने का विचार है, यही मलदोष है। जब तक यह दोष बना हुआ है, तब तक मन परमात्मा को जानने में साधन नहीं हो सकता। यथा दर्पण से नेत्र और उसके भीतर रहनेवाले सुरमा (अञ्जन) का दर्शन होता है; परन्तु मैला दर्पण नेत्र और सुरमा का दर्शन नहीं कर सकता। इस कारण नेत्र और सुरमा को देखनेवाले प्रथम दर्पण को शुद्ध करते हैं, जब तक दर्पण शुद्ध न हो, तब तक किस प्रकार उससे ज्ञान हो सकता है। वह मनुष्य मूर्ख है, जो मन को शुद्ध किये बिना जीवात्मा और परमात्मा के देखने की इच्छा रखता है और वह गुरु कपटी है, जो परमात्मा को दिखाने के लिये अतिरिक्त मन के दोषों को दूर करने के, अन्य साधन बताता है।

प्रश्न—विक्षेप दोष किसे कहते हैं?

उत्तर—मन की चञ्चलता का नाम विक्षेप दोष है। मन इस वेग से सङ्कल्प विकल्प करता है कि इसका चलना (गति) विद्युत से भी अधिक है। यदि इस भाँति वेग से गति करनेवाले दर्पण से कोई नेत्र और उसके भीतर रहनेवाले सुरमा का दर्शन करना चाहे, तो क्योंकर सफल हो सकता है।

प्रश्न—आवरण दोष किसे कहते हैं?

उत्तर—यदि दर्पण पर एक काग़ज़ (पत्र) पड़ा हो, तो इसमें नेत्र और नेत्र के भीतर रहनेवाले सुरमा का दर्शन नहीं हो सकता। अतः जब तक दोष दूर न हो, तब तक आत्मा और परमात्मा का जानना कठिन है।

प्रश्न—क्या इन तीनों दोषों के अतिरिक्त परमात्मा के जानने में और कोई बाधा है ?

उत्तर—यदि दर्पण शुद्ध हो, परन्तु मकान अँधेरा हो, तो भी नेत्र और सुरमा का ज्ञान नहीं हो सकता । इस कारण सबसे बड़ा दोष जिससे हम जीवात्मा और परमात्मा को नहीं जान सकते ; वह अविद्या अन्धकार है । जब तक अविद्या रहेगी, कोई भी जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप को नहीं जान सकता ।

प्रश्न—इन दोषों को दूर करने का उपाय क्या है ; जिससे परमात्मा के जानने योग्य बन सके ?

उत्तर—अन्धकार को दूर करने का उपाय ब्रह्मचर्याश्रम के द्वारा वेद वेदांग और उपांग को यथावत् पढ़ना ; फिर वेद के बताये हुए निष्काम कर्म से मन के मलदोष को दूर करना । जिस प्रकार से मन में अन्य को हानि पहुँचाने का विचार हुआ था, उसके स्थान में दूसरों के साथ परोपकार का विचार नियत करना ; जिसके वास्ते गृहस्थाश्रम बनाया गया । फिर विक्षेप दोष को दूर करने के लिये वानप्रस्थाश्रम करके अष्टांग योग के अभ्यास अथवा वैराग्य द्वारा मन की चंचलता को दूर करना । अतिरिक्ति वैराग्य और अभ्यास के अन्य कोई साधन मन को स्थिर करने का नहीं । पुनः संन्यासाश्रम के द्वारा मन के ऊपर जो अहंकार का परदा पड़ा हुआ है, इसको दूर करना । अतएव इन चारों आश्रमों का नियम-पूर्वक पालन करना ही परमात्मा को जानने का सन्मार्ग है । इसके विरुद्ध चलनेवालों को कभी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

(शब्दार्थ) (सः) इसलिये । (अयमात्मा) यह जीव के भीतर वास करनेवाला आत्मा । (अध्यक्षरम) नाशरहित । (ओंकारः)

ओ३म् है । (अधिमात्रं) मात्रा इनसे बताया गया । (पादाः) पाद अर्थात् भागों से विभाजित करके । (मात्रा) मात्रा से विभाग करके । (मात्राश्च) मात्रा में । (पादाः) पाद्य हैं । (अकारः) अकार । (उकारः) उकार । (मकारः) मकार ।

अर्थ—सो वह आत्मा जो विनाशरहित और जीव के भीतर वास करनेवाला है ; वह पाद और मात्रा के विभाग से विभाजित करके अकार, उकार, मकार के शब्द से प्रकाशित किया गया है ; जिससे समझनेवालों को सरलता से परमात्मा का ज्ञान हो सके। समस्त संसार में जानने के योग्य चार ही वस्तु हैं, जो चार पाद कहलाते हैं। तीन प्रकृति के गुण और एक तीनों से पृथक्। चार आश्रम, चार वर्ण, चार वेद, चार अवस्था जानने के चार साधन हैं। किन्तु ब्रह्म चार ही से जाना जाता है, इस कारण ओ३म् अक्षर में तीन पाद तो चेतन जीवात्मा के, जो प्रकृति के गुणों को अल्पज्ञता से भोगता है । दिखाकर, चौथे में उस जीव के भीतर रहनेवाले परमात्मा को प्रकट किया ।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

(शब्दार्थ) (जागरितस्थानः) जाग्रत दशा को अभिमानी जीव में व्यापक । (वैश्वानरः) वैश्वानर नामवाला । (अकारः) अकार । (प्रथम मात्रा) प्रथम मात्रा है सर्व अक्षरों में व्यापक होने से । (आप्तेः) पाना । (आदिमत्त्वात्) सब अक्षरों में पहिला होने से । (आप्नोति) प्राप्त होता है । (ह वै) निश्चय करके । (सर्वानकामान्) सम्पूर्ण इच्छाओं को । (आदिः) आदि कारण । (च) भी । (भवति) होता है । (यः) जो । (एवं) इस प्रकार । (वेद) जानता है ।

अर्थ—ओंकार की प्रथम जो मात्रा अर्थात् अक्षर अकार है,

उसका नाम वैश्वानर है ; क्योंकि जिस प्रकार अकार सब अक्षरों में व्यापक है, बिना अकार के किसी अक्षर को बोल नहीं सकते ; ऐसे ही परमात्मा जो वैश्वानर है, वह सब पदार्थों के भीतर व्यापक है। बिना उसकी सत्ता के संसार के भीतर कोई नियम स्थित नहीं हो सकता। दूसरे सम्पूर्ण अक्षरों में अकार प्रथम है, इसी प्रकार सृष्टि के सर्व कारणों में परमात्मा प्रथम कारण है अर्थात् कर्ता है। बिना कर्ता के कोई कारण कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता अर्थात् मिट्टी कभी अपने आप घड़ा नहीं बना सकती। लोहे से बिना कर्ता के घड़ी नहीं बन सकती। जो मनुष्य बिना कर्ता के जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, उनके पास दृष्टान्त के लिये कोई शब्द नहीं।

प्रश्न—जगत् अनादि है, उसका कोई आदि नहीं और न अकार सब में व्यापक है।

उत्तर—जो वस्तु विकारवाली हो, वह अनादि कैसे हो सकती है। जगत् के पदार्थों में षट्विकार[1] अर्थात् १ उत्पन्न होना, २ बढ़ना, ३ एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, ४ रूप बदलना, ५ घटना, ६ नाश होना पाये जाते हैं। जबकि जगत का प्रत्येक पदार्थ विकारयुक्त है, तो उसका योग विकार से शून्य कैसे हो सकता है। जब सम्पूर्ण योग के परमाणु विकारयुक्त हों, तो वह विकार रहित कैसे हो सकते हैं। अतः जगत् विकारवाला होने से अनादि कभी नहीं हो सकता और आदि कहते हैं कारण को, अतएव जो उत्पन्न है, उसका कारण अवश्य है और किसी व्यंजन का उच्चारण बिना अकार के नहीं हो सकता।

प्रश्न—जबकि इकार, उकार का उच्चारण बिना अकार के होता है, तो किस प्रकार कहा जावे कि अकार के बिना किसी का उच्चारण नहीं हो सकता?

उत्तर—इकार और उकार दो स्वर इस कारण पृथक् हैं कि जीव प्रकृति वह जो ब्रह्म की सम्पत्ति तथा प्रजा है, वह नित्य हैं। इस कारण

१—षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः (निरुक्त १। २)

तीन स्वर जो नित्य हैं अर्थात् अकार, ब्रह्म और इकार जीव और उकार प्रकृति; शेष सब स्वर और व्यंजन यौगिक हैं। स्वर की परिभाषा (लक्षण) ही यह है कि जो अपने आप हो, जिसका कोई कारण न हो । अतः जीव की तीन अवस्थाओं में ब्रह्म उसके भीतर विराजमान होता है। इस कारण तीन पाद और मात्राएँ जीव को दिखा, चौथा पाद और मात्रा ब्रह्म है । जीव के भीतर कोई नहीं, वह सबसे सूक्ष्म और सबसे महान, सबके भीतर रहकर उनका प्रबन्धक है। जब तक जीव उसको न जाने, तब तक उसको यथार्थ शान्ति नहीं मिल सकती।

प्रश्न—जबकि जीव, प्रकृति और ब्रह्म तीनों नित्य हैं, तो अकेले ब्रह्म को सबके भीतर मानना और प्रकृति को न मानना ठीक नहीं हो सकता ?

उत्तर—जिस प्रकार अकार के बिना किसी व्यञ्जन का उच्चारण नहीं हो सकता। क्या इकार उकार की भी यही दशा है ? कदापि नहीं। इस दृष्टान्त से बताया गया है कि ब्रह्म के बिना तो वस्तु स्थित नहीं रह सकती ; परन्तु ऐसे पदार्थ जिनके भीतर जीव नहीं, जिससे जगत दो प्रकार का कहाता है ; एक जड़, दूसरे चेतन अथवा स्थावर, जंगम चराचर इत्यादि।

प्रश्न—भला जीव के होने न होने से तो जड़ चेतन का किया, परन्तु प्रकृति को तो सबके भीतर मानना ही पड़ेगा। फिर अकेले ब्रह्म ही को क्यों व्यापक कहा ?

उत्तर—सूक्ष्म वस्तु के भीतर स्थूल वस्तु नहीं जा सकती, परन्तु स्थूल के भीतर सूक्ष्म जा सकती है। अतः प्रकृति स्थूल है, इसके भीतर जीव और ब्रह्म रह सकते हैं ; परन्तु जीव ब्रह्म व्यापक हो सकता है। जीव एक देशी होने से व्यापक नहीं हो सकता और प्रकृति स्थूल होने से ।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं

समानश्च भवति नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

(शब्दार्थ) (स्वप्नस्थानः) स्वप्न की दशा जिस स्थान में है। (तैजसः) तैजस नाम । (उकारः द्वितीया मात्रा) उकार द्वितीय मात्रा है। (उत्कर्षाद्) महान् होने से । (उभयत्वाद्) दोनों के बीच होने से अथवा दोनों के साथ सम्बन्ध होने से। (उत्कर्षति) महत्ता को प्राप्त होता है। (ज्ञानसन्ततिम्) ज्ञान से उत्पादक फल को प्राप्त होता है। (समानश्च) जो न कभी दुखी न सुखी, न मित्र न शत्रु, सबके समान होता है। (न) नहीं । (अस्यकुले) इसके कुल में। (अब्रह्मविद्) ब्रह्म को न जाननेवाला। (भवति) होता है। (यः) जो। (एवं) इस प्रकार। (वेद) जानता है।

अर्थ—द्वितीय पाद अर्थात् तैजस को द्वितीय मात्रा उकार से अनुकूल करके दिखाते हैं। स्वप्न दोनों दशाओं के मध्य में होता है। जागृत और निद्रा की मध्यम दशा का नाम स्वप्न होता है, इस कारण वह दोनों के मध्य में होता है और वह जागृत से उत्तम होता है ; क्योंकि जागृत की अवस्था में तो विषयों के संस्कार बढ़ाते हैं और स्वप्न में उसकी उन्नति रुक जाती है। यहाँ उकार से आशय जीवात्मा का है, जो संसार में नैमित्तिक ज्ञान को प्राप्त करता है, जो प्रकृति से उत्तम है ; क्योंकि प्रकृति में ज्ञान नहीं और जीवात्मा ज्ञान को प्राप्त करके उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द को प्राप्त करता है और ब्रह्म प्रकृति के मध्य है और ब्रह्म की भाँति ज्ञान स्वरूप नहीं। जिसको वाह्य ज्ञान की आवश्यकता ही न हो अथवा जिसका नियम उन्नति न कर सके और प्रकृति की भाँति ज्ञान से शून्य हो वह अल्पज्ञ है । यदि वह प्रकृति के साथ सम्बन्ध करे, तो मिथ्या ज्ञानी होकर अज्ञान स्वरूप प्रकृति के धर्म दुख को ग्रहण कर लेता है। प्रकृति दुःख स्वरूप है, जीव उसके संग से दुःख को प्राप्त होता है। जैसा कि जागृत अवस्था में मालूम होता है। जागृत अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्रकृति के विषयों के साथ में सम्बन्ध रखती हैं, जिससे सब प्रकार के दुःख ईर्षा द्वेष,

काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि प्राप्त होते हैं। मानो जाग्रत अवस्था प्रकृति के साथ सम्बन्ध उत्पन्न करती है। स्वप्न जाग्रत से ऐसा ही उत्तम है, जैसे प्रकृति से जीव। जाग्रत में प्रकृति के सस्कार बढ़ते हैं, स्वप्न में नहीं। सुषुप्ति में जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध होता है और जाग्रत में प्रकृति से; स्वप्न दोनों के मध्य में है। जैसे ब्रह्म ज्ञान स्वरूप और प्रकृति अज्ञान-स्वरूप है; परन्तु जीव न तो ज्ञान स्वरूप है, न अज्ञान-स्वरूप है। थोड़ा ज्ञान है, शेष वस्तुओं का सीमाबद्ध होने से अज्ञान रहता है। जितनी वस्तुओं का इन्द्रियों के द्वारा मन में ज्ञान होता है, जितने शब्द सुने हैं, जितने रूप देखे हैं, जितनी वस्तुओं का रस चक्खा है, जितनी गन्ध सूंघी है जितना स्पर्श किया है; इन सबका संस्कार मन में रहता है; उसकी स्मृति होती है उसको स्वप्न में देखता है; शेष सम्पूर्ण वस्तुओं से अज्ञानी रहता है। जब जीवात्मा परमात्मा के साथ सम्बन्ध करता है, तो उसका वाह्य ज्ञान अल्प होता है और सुख की वृद्धि होती है। जब प्रकृति के साथ सम्बन्ध करता है, तो उसका वाह्य ज्ञान बढ़ता है और सुख घटता है। जाग्रत अवस्था में प्राकृतिक सम्बन्ध होता है और स्वप्न अवस्था में परमात्मा से; और स्वप्न अवस्था दोनों के मध्य है, इस कारण जाग्रत अवस्था से उत्तम और दोनों के मध्य रहनेवाली है। जो इस बात को ठीक प्रकार से जानता है, उसके कुटुम्ब में ब्रह्मज्ञानी उत्पन्न होते हैं। कोई ब्रह्म का न जाननेवाला उस कुल में नहीं होता।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह्वा इदꣳ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

(शब्दार्थ) (सुषुप्तस्थानः) सुषुप्त स्थान। (प्राज्ञः) प्राज्ञ नाम वाला। (मकारस्तृतीया म ः) मकार तृतीय मात्रा है। (मितेः) अनुमान करने से। (अपीतेर्वा) एक ही हो जाने से। (मिनोति) अनुमान करता है। (ह्वै) यथावत्। (इदं सर्वम्)

इस सब जगत् को । (अपीतिश्च भवति) यह जगत् का जो कारण है ; इसको प्राप्त होता है । (यः) जो । (एवं) इस प्रकार । (वेद) जानता है ।

अर्थ—सोने की दशा में जीव का नाम प्राज्ञ होता है, इसके लिये मकार तृतीय मात्रा है । इसके बताने के लिये अनुकूलता का कारण क्या है ? इसके उत्तर में बताया गया है कि प्राज्ञ से विश्व और तैजस का अनुमान किया जाता है । द्वितीय जिस प्रकार प्रथम अकार, उकार के योग से ओं३म् एक हो जाता है । ऐसे प्राज्ञ अर्थात् सोने की दशा में सम्पूर्ण नैमित्तिक ज्ञान से अलग होकर भीतर रहनेवाले आत्मा में मन को लगाकर इस सारे जगत् का ठीक ठीक अनुमान कर लेता है ; क्योंकि जिस समय जागना था, उस समय बाहर से क्लेश भीतर आ रहे थे । जब स्वप्न की दशा में आ गया, तब बाहर से क्लेश आने बन्द हो गये ; परन्तु आये हुए मौजूद रहे ; परन्तु जब सुषुप्ति दशा में अणु बाहर से आने के अतिरिक्ति भीतर के भी शेष न रहे, क्योंकि वह भी स्वरूप से पृथक् मन में आत्मभाव होने के कारण से थे । जब मन के साथ सम्बन्ध टूट गया अर्थात् इसमें अहंकार न रहा, तब सर्व क्लेश दूर हो गये । इससे जीव को जगत् का अनुमान विदित हो गया, कि जब इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्ध होता है, तो मन बहुत फैल जाता है, जिससे दुःख ही दुःख प्रतीत होता है । मकान जल गया, धन नाश हो गया, मन दुखी हो गया, पुत्र मर गया, मन दुखी हो गया ; कोई सम्बन्धी मर गया, मन दुखी हो गया ; घोड़ा मर गया, मन दुखी हो गया ; अपने शरीर के अतिरिक्ति मैं इतनी बढ़ जाती है कि जिसकी सीमा नहीं रहती और जितनी मैं उन्नति करती है, उतना ही दुःख वृद्धि पाता है । जागृत अवस्था में अहंकार अपने शरीर से बाहर की वस्तुओं का भी बना रहता है, परन्तु स्वप्न की दशा में अत्यन्त निर्बल हो जाता है, केवल इन्द्रियों के पदार्थों का सम्बन्ध मन में रह जाता है । इस कारण स्वप्न की दशा में जागृत अवस्था की अपेक्षा उत्तमता मानी गई है । परन्तु जब सो जाते हैं, तो मैं न जगत् के पदार्थों में रहती हूँ, न शरीर में, न सूक्ष्म

शरीर में। जब मैं इन नाशवाली वस्तुओं से पृथक् हो गई, तो किसके नाश से दुःख हो। इस समय केवल जीवात्मा के भीतर चली गई। जब मैं जीवात्मा के भीतर रहती है, तो इसका नाश हो नहीं सकता, जिससे कोई दुःख हो सके ; परन्तु जीवात्मा का ज्ञान स्वाभाविक गुण है, जो बिना जाने रह सकता है। जब बाहर का सम्बन्ध टूट गया, तो बाहर का ज्ञान बन्द हो गया, जिससे जीवात्मा को दुःख न रहा। अब उसने भीतर देखना आरम्भ किया, जहाँ एक ही आनन्द स्वरूप था। यदि दो होते, तो ज्ञान होता ; एक में ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। अतः आनन्द में जीव रहा, जिससे वह सम्पूर्ण दुःख, जो जागने में रहे थे, जाते रहे।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

(शब्दार्थ) (अमात्रः) जिसके लिये कोई मात्रा नहीं। (चतुर्थः) चतुर्थ पाद। (व्यवहार्यः) जिस पर कोई व्यवहार नहीं हो सकता। (प्रपञ्चोपशमः) जहाँ पहुँचकर यह प्रपंच अर्थात् अज्ञान दूर हो जाता है। (शिवः) कल्याणकारी क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, बुढ़ापे और मौत से रहित। (अद्वैतः) अनुपम। (ओंकारः) ओंकार है। (आत्मा) जीवात्मा। (एव) ही। (संविशति) व्याप्य होता है। (आत्मना) परमात्मा से। (आत्मानं) आत्मा को। (एवं) इस प्रकार। (वेद) जानता है। द्विर्वचन ग्रन्थ समाप्ति सूचक है।

अर्थ—यहाँ तक तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के अभिमान से तीन पाद और मात्रा ओ३म् से प्रकट करके अब इन तीनों शरीरों के अभिमानी जीवात्मा के भीतर जो व्यापक परमात्मा होता है, तो उसका उन अवस्थाओं से सम्बन्ध है, न कि इन तीन शरीरों से और न क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु का उस पर कोई प्रभाव है। जिस प्रकार जीव बहुत से हैं, परन्तु परमात्मा एक ही है, इसकी कोई

उपमा नहीं, वह जीव के भीतर भी व्यापक है, जीवात्मा को इस प्रकार जानता है, कि जब वह बाहर सम्बन्ध छोड़कर, अपने भीतर परमात्मा को व्यापक देखकर, यह कहता है कि मुझमें जो व्यापक है, यह ब्रह्म है, यह आत्मा है, उसको कोई दुःख हो ही नहीं सकता । जिस प्रकार सूर्य के निकट जाने से अन्धकार स्वयम् भाग जाता है ; ऐसे ही परमात्मा को अपने भीतर देखने से सब दोष दूर हो जाते हैं ।

जो मनुष्य विचार से इस उपनिषद् को पढ़ते हैं, वह तो आत्म-ज्ञान को प्राप्त होते हैं और जो मनुष्य अविचार से पढ़ते हैं, वह मायावाद के जाल में ग्रसित हो जाते हैं । वेदान्तदर्शन ऐसा उत्तम दर्शन है कि जिसको जाननेवाला मनुष्य मनुष्यत्व की पदवी से आगे बढ़ जाता है। जो मनुष्य वेदान्त को नहीं जानते, वह मनुष्यत्व से गिरे हुए हैं ; क्योंकि जो मनुष्य यहीं नहीं जानता कि मैं क्या हूँ, उससे बढ़कर संसार में मूर्ख कौन हो सकता है । सम्पूर्ण संसार की चिकित्सा जानता हूँ ; परन्तु अपने रोग से हिल नहीं सकता और इसकी चिकित्सा भी नहीं कर सकता, तो मेरा अन्य रोगों की चिकित्सा जानने से क्या लाभ है ; क्योंकि मैं जब तक स्वयम् आरोग्य होकर इनकी बीमारी की चिकित्सा न करूँ, तो मेरे ज्ञान से दूसरों को क्या लाभ पहुँच सकता है। वेदान्त शास्त्र ही है, जो जीव को अपने रूप का ज्ञान कराके सब प्रकार के दुःख और भय से मुक्त करा देता है । मायावादियों ने तो वेदान्तशास्त्र को बदनाम कर रक्खा है ; परन्तु वह वास्तव में ठीक नहीं । बहुत से मनुष्य यह कहते हैं कि वेदान्ती मनुष्य आलसी होता है और निकम्मा हो जाता है ; परन्तु यह विचार केवल मूर्खों का है। वास्तव में वेदान्ती अपने स्वरूप को जानता है, उसको निश्चय हो जाता है कि आत्मा नित्य है। कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो आत्मा को काट सके, कोई अग्नि ऐसी नहीं, जो आत्मा को जला सके। यदि संसार की सब शक्तियाँ एकत्रित हो जावें, तो भी आत्मा को कोई हानि नहीं हो सकती। क्षुधा, तृषा, प्राणों के धर्म हैं। आत्मा प्राण नहीं, प्राण उत्पन्न तथा नाश होनेवाले हैं। उनके धर्म से आत्मा को कोई दुःख नहीं। प्राण परमात्मा ने कर्मों

का फल भोगने के लिये अवधि दी है, जिसकी रक्षा परमात्मा का काम है। जब तक परमात्मा इसकी रक्षा करेगा, तब तक यह सुरक्षित रहेंगे। परमात्मा की आज्ञा होते ही कोई भी इनको स्थिर नहीं रख सकता। संसार के बड़े-बड़े राजाओं को एक मिनट में चलना होगा। कोई सेना, तोप, डायनामाइट के गोले और बन्दूकें, गढ़ और खन्दकें एक मिनट के लिये इस वारण्ट को जो प्राणों को लेने आया है, रोक नहीं सकती। संसार में अनगिनती राजा हुए। आज उनके शरीरों का कुछ भी चिन्ह नहीं। जो उत्पन्न हुआ है, उसका नाश भी होना है। प्राण न उत्पन्न हुए हैं, न उनको नाश होना है। नाश से रहित का नाशवाले से क्या मेल ? इसलिये प्राणों की रक्षा की इसको कोई चिन्ता नहीं। वह रोटी के लिये अपने धर्म को नहीं बेच सकते। वह जानता है कि मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं। एक पामर, दूसरे विषयी, तीसरे मुमुक्षु। जो मनुष्य पशुओं के शरीर से आते हैं, उनके भीतर पशुओं के सस्कार होते हैं। पशुओं को खाने के अतिरिक्त और कोई चिन्ता नहीं होती। उसको यह निश्चय नहीं होता कि जिस स्वामी ने मुझे खूंटे पर बाँधा है, जिसको मुझसे काम लेना है ; वह मुझको अवश्य खाने को देगा। स्वामी खाना देने आता है, पशु रस्सा तुड़ाने के लिये दौड़ता है जब तक खाना उसके सामने न आ जावे, उसको शान्ति नहीं होती। वह अपने साथियों से चारे के लिये लड़ता है। ऐसे ही जो मनुष्य पशु शरीर से आये हैं, जिनमें ज्ञान के संस्कार बहुत कम हैं, जो पुनजन्म के सिद्धान्त से अनभिज्ञ हैं, जो आत्मा की सत्ता से अनभिज्ञ हैं, जो परमात्मा के और इनके नामों से दूर हैं, जो कर्म और फल भोगने के विधान से अनभिज्ञ हैं, वह पामर मनुष्य हैं; जिनके जीवन का उद्देश्य ही रोटी हैं। भारतवर्ष में आज भी लक्षों पामर मनुष्य हैं, जिनको धर्म-कर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं, जो केवल रोटी की खोज ही मुख्य समझते हैं। जिनके हृदय में यह बैठा हुआ है कि यदि हम अपने धर्म की ओर लग जावें, तो रोटी कहाँ से आवे। वह यह नहीं देखते कि जिस समय मनुष्य अति न्यून असत्य बोलते थे, जिस समय मनुष्य अँगरेज़ी शिक्षा से शून्य थे जिस समय मनुष्य अँगरेज़ी विज्ञान से

नितान्त अनभिज्ञ थे; उस समय रोटी कैसी सरलता से प्राप्त होती है। उस समय न तो ऐसे सूखा पड़ते थे और न रोग फैलते थे। जितनी अँग-रेज़ी शिक्षा बढ़ती जाती है, वैसे ही मनुष्य परमात्मा को भूलकर प्रकृति उपासक बन गये। जिसका परिणाम हर प्रकार के दुःख भोगना था। जबकि गवर्नमेण्ट के विरोधी आराम से नहीं सो सकते, उनको रात-दिन पकड़ जाने का भय लगा रहता है। यद्यपि सरकार अल्पज्ञ है। वह विरोधियों के मन का वृत्तान्त नहीं जान सकती, उसे गुप्त-भेदी द्वारा पता लगाने की आवश्यकता पड़ती है। इतनी कमज़ोरी पर भी बिद्रोही पकड़े जाते हैं और दण्ड पाते हैं। इन दण्डों को देखकर विद्रोहियों के चित्त अशान्त रहते हैं। फिर उस सर्व व्यापक सर्वशक्तिमान् परमात्मा के विद्रोही जिसके सर्वत्र होने से किसी गुप्त-भेदी की आवश्यकता नहीं, जिसके दंड से झूठी साक्षी नहीं बचा सकती, कोई योग्य वकील भी क़ानून द्वारा मुक्त नहीं करा सकता। फिर उससे विरोध करके जो सुख चाहते हैं, वह निरे पशु कहलावेंगे। दूसरे प्रकार के मनुष्य विषयी कहलाते हैं। जो इन पशुओं से कुछ अधिक ज्ञान रखते हैं। वह प्रत्येक वस्तु को सुधार कर प्रयोग करना चाहते हैं। वह प्राकृतिक विज्ञान के प्रेमी और अपनी सत्ता से शून्य होते हैं। इनको भी न तो जीवात्मा की सत्ता का ज्ञान होता है और न परमात्मा की सत्ता का ज्ञान, न इनको पुनर्जन्म पर कुछ विश्वास होता है और न वेद पर। इसलिये वह मनुष्य जीवन का उद्देश्य खाना-पीना और विषयभोग ही समझते हैं। यह दोनों तो पुनर्जन्म के विश्वास न होने से वर्तमान जन्म के लिये प्रबंध करते है। वर्तमान जन्म का प्रबंध पशु भी करते हैं। खाना-पीना और विषय भोगना भी पशुओं में पाया जाता है। यह अपने आपको पशुओं से आगे नहीं ले जा सकते। यह बार-बार पशुओं के शरीर में जन्म लेते हैं। इनका जीवन बहुमूल्य जीवन नहीं होता; क्योंकि यह अपने जीवन को शरीर की गाड़ी को धोने और इन्द्रियों के घोड़े चराने में व्यय करते हैं। वह जीवन जो गाड़ी को धोने और घोड़ों के चराने में खर्च हो, उत्तम पुरुष का जीवन नहीं हो सकता; क्योंकि गाड़ी का धोना, घोड़ों का चराना, साईस का काम है। साईस चाहे

कितने ही अधिक हों, उनसे देश की प्रतिष्ठा नहीं होती ; क्योंकि इनकी आत्मा बल से शून्य होती है। इनके हृदय में कभी बलवान साहस उत्पन्न नहीं होता। छोटे काम तथा छोटे विचार होते है। निर्बलता उनको आधीन रखती है। वेदान्तशास्त्र के ज्ञाता तीसरे प्रकार के मनुष्य होते हैं, जिनको मुमुक्षु कहते हैं। इनके भी तीन भेद हैं। एक वह जिनके मन मैले थे, वह उसको शुद्ध करने के लिये निशि-दिन परोपकार में लगे रहते हैं। वह समस्त संसार की भलाई को ही अपना उद्देश्य समझते हैं। उनका वचन यह होता है कि अपने उत्साह को ऊँचा रख, ताकि ईश्वर और सृष्टि के समीप हो और तेरे उत्साह के अनुसार तेरा आदर हो। न तो उनको आराम की इच्छा न धन की; यदि इच्छा है, तो परोपकार की। वह संसार के कष्टों की कुछ परवाह नहीं करते। वह यश तथा अपयश को तुच्छ समझते हैं। वह मान-अपमान से कोई स्वार्थ नहीं रखते। वह किसी दशा में भी जीवमात्र को हानि पहुँचाने का विचार नहीं करते। उनका विचार स्वतंत्र रहता है। ईश्वर की आज्ञा पर उनको संतोष होता है। वह जानते हैं कि परमात्मा जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है। उसने जो कुछ किया, अच्छा ही किया। वह जो कुछ करेगा, अच्छा ही करेगा ; क्योंकि वह न्याय तथा दया के अतिरिक्त कुछ करता ही नहीं। यदि तुमको दुःख मिलता है ; तो तुम्हारे कर्मों से। दयालु परमात्मा ने कोई वस्तु ऐसी नहीं बनाई, जो जीवों को दुख देने वाली हो और न कोई वस्तु सुखदायी है। सुख-दुःख का कारण निज कर्म है। यदि हम ज्ञान के अनुकूल कर्म करते हैं, तो सुख होता है; यदि ज्ञान के विरुद्ध करते हैं, तो दुःख होता है। ज्ञान हमको बताता है कि जिस प्रकार के बीज बोवेंगे वैसा ही फल आवेगा। इसी प्रकार हम दूसरों के साथ जैसी वासना करते हैं, वैसा ही हमको फल मिलता है। जो मनुष्य दूसरों को हानि पहुँचाने का विचार करता है; उसके मन में पाप का बीज बोया गया, जिसका फल दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वह दूसरों के दोष टटोलने पर नहीं रहता, न इस कर्म को उच्च विचार करता है ; किन्तु किसी में

कोई दोष दृष्टि पड़ता है, तो उसको किसी उपाय से दूर करना चाहता है। वह मधुमक्षिका की भाँति पुष्पों से मधु निकालता है। वह जिससे मिलता है, उसके गुणों में से कोई न कोई गुण प्राप्त करता है। वह ससार में रहता है, परन्तु सराँय समझ कर संसार को अपना घर नहीं समझता। उसका विचार इस दृष्टान्त पर रहता है।

दृष्टान्त—किसी राजा ने एक जड़ाऊ छड़ी बनवाई; जिसमें लाखों रुपये के हीरा-मोती लगा दिये। एक दिन राजा श्मशान के पास से होकर निकले, वहाँ एक पागल को देखा। राज़ा ने उससे कहा—तुम नगर में क्यों नहीं आते? दीवाने ने उत्तर दिया—जो नगर में हैं, वह कहाँ जाते हैं। अन्त को वह भी यहाँ ही आते हैं। पागल की इस बात को सुनकर राजा ने छड़ी उसको दे दी। पागल ने कहा—मैं इसको क्या करूँ, यह मेरे किस काम की है। राजा ने कहा—इसे रक्खो, जब कोई तुमसे अधिक उन्मत्त मिले, तो उसे देना। पागल ने वह छड़ी ले ली। कुछ समय के पश्चात् राजा की मृत्यु के दिन समीप आये। यह समाचार पागल को मिला। वह राजा के समीप आया और राजा से हाल पूछा। राजा ने कहा—अब हमारे अन्तिम मार्ग का समय है। पागल ने पूछा—आप कहाँ जायेंगे? राजा ने कहा—यह तो मालूम नहीं। पागल ने कहा—जहाँ आप जायेंगे कितनी सेना, रिसाला, तोपें और प्यादे साथ ले जायेंगे। राजा ने कहा—तब ही तो तुमको पागल कहते हैं। भला, अंतिम मार्ग में कहीं ऐसा सामान भी जाया करता है। दीवाने (पागल) ने फिर कहा—कितना कोष आप साथ में ले जायेंगे, क्योंकि इतने बड़े यात्रा के लिये जिसका पता ही न हो, बहुत व्यय की आवश्यकता पड़ेगी। राजा ने कहा—वास्तव में तू पागल है। भला, कहीं अंतिम यात्रा में कोष साथ जाया करता है। इस यात्रा में बिना धन के ही जाना पड़ता है। पागल ने कहा—अच्छा कौन से मन्त्री आपके साथ जावेंगे, क्योंकि बिना मन्त्री के तो काम चल ही नहीं सकता। राजा ने कहा—तू बड़ा पागल है, कहीं इस अंतिम यात्रा में मंत्री साथ जाया करते हैं। पागल ने कहा—अच्छा कौन-कौन सी रानियाँ साथ जावेंगी, क्योंकि बिना

रानियों के यात्रा में अकेले आपका काम कैसे चलेगा ? राजा ने कहा—तुझसे बढ़कर कौन मूर्ख होगा। क्या इस अंतिम यात्रा में रानियाँ साथ जाया करती हैं। पागल ने कहा—रानियाँ नहीं, तो राजकुमार तो साथ जावेंगे, क्योंकि इनके बिना संतोष कैसे मिलेगा ? राजा ने कहा—नहीं, इस यात्रा में राजकुमार भी न जा सकेंगे। पागल ने पूछा—तो फिर अकेले ही सही, परन्तु किस सवारी में आप जावेंगे ? राजा ने कहा—अरे मूर्ख ! इस यात्रा में सवारी भी साथ नहीं जा सकती। यह सुनकर पागल ने छड़ी राजा के पास फेंक दी और कहा—मुझसे अधिक पागल तू है। सहस्रों मनुष्यों को दुख देकर ऐसा सामान एकत्रित किया, जिसको साथ नहीं ले जा सकता। तुझसे अधिक पागल कौन होगा। राजा सुनकर पश्चात्ताप करने लगा।

जो मनुष्य अज्ञानी हैं, वह सांसारिक पदार्थों को नित्य समझ कर उनको एकत्रित करने में लगे रहते हैं और ज्ञानी पुरुष जानता है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह अवश्य नष्ट होती है ; क्योंकि पैदा हुई वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती। अनित्य में नित्य बुद्धि इत्यादि अविद्या ही सब दुखों का कारण है। जो मनुष्य अविद्या के चक्कर में फँस जाते हैं, वह सदा दुख भोगते हैं। जो मनुष्य विद्या से काम करते हैं, वह सदा सुख भोगते हैं। उत्पत्ति-शील वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती ! करोड़ों राजा हुए ; परन्तु उनके अस्तित्व का कोई चिन्ह संसार में दृष्टि नहीं आता। असंख्य धनी सम्पत्ति खोकर कङ्गाल बनते हैं। सहस्रों धनी पुरुषों के घर चोर-डाकू लूट लेते हैं। सैकड़ों बैंक दिवाला निकाल बैठे। सहस्रों ज़मींदारों की ज़मींदारियाँ बिक गईं। कोटि युवा, बलवान, योद्धा, मिट्टी में मिल राख की ढेरी बन गये। भीम और अर्जुन की अस्थियों के चिन्ह भी नहीं मिलते। राम, कृष्ण के शुभ कर्मों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक शरीर का कुछ भी पता नहीं। अतएव मुमुक्षु का यह विचार है कि जिस प्रकार हो सके ; संसार का निष्काम परोपकार करूँ, जिससे अन्तःकरण की शुद्धि हो जावे। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जावे, तो तीन प्रकार की वासनायें अर्थात् वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा (धन की इच्छा, पुत्र की इच्छा, यश की इच्छा) दूर

हो जाती हैं। जिसको यह इच्छायें प्रस्तुत हैं, उसका मन शुद्ध नहीं। वह परोपकार के काम यदि करता है, तो लोकेष्णा अर्थात् यश-प्रतिष्ठा तथा प्रभुत्व के कारण से करता है ; परन्तु यह सब धर्म से गिरा पाप के गढे में गिराते हैं। इन्द्र जैसे देव-राज को भी यश की इच्छा ने धर्म से पतित कर दिया। कोई यश का इच्छुक यह नहीं चाहता कि उस जैसे दो हो जावें। धर्म के विचार के लाखों मनुष्य मिलकर काम कर सकते हैं ; परन्तु यश और प्रतिष्ठा तथा हुकूमत के विचार के दो मनुष्य भी एक में नहीं समा सकते। जैसा कवि कहता है, जिसका भावार्थ यह है—१० साधु १ गुदड़ी में समा सकते हैं ; परन्तु दो बादशाह एक देश में नहीं रह सकते।

जब तक मनुष्य के मन में परोपकार का विचार रहता है, तब तक उसका किसीसे विग्रह तथा झगड़ा नहीं होता। जहाँ स्वार्थ आवे लड़ाई झगड़े-आरम्भ हो जाते हैं। जबतक विद्या रहती है, लड़ाई-झगड़े नहीं होते ; परन्तु अविद्या महाराणी का पाँव जहाँ पड़ा, वहाँ सब फूट मरते हैं। द्वितीय कक्षा के मुमुक्षुवत हैं, जिनका मन शुद्ध हो चुका है, जो केवल मन की चञ्चलता को दूर करने के लिये अभ्यास और वैराग्य को काम में लाते हैं। मन बिना वैराग्य और अभ्यास के स्थिर नहीं हो सकता। योगीजन अभ्यास के द्वारा मन को पकड़ते हैं। मन रक्त की गति से गति (हरकत) करता है। यदि रक्त में गति न हो, तो मन गति नहीं कर सकता। रक्त प्राणों की गति से क्रियावान होता है, यदि यह प्राणों की हरकत न हो, तो रक्त गति नहीं कर सकता। अतएव जब प्राण गति अधिकार में आ जायँ, तो रक्त की गति वश में हो जावेगी। जबकि रक्त की गति वश में हो जावेगी, तब चञ्चल मन भी वश में हो जावेगा। इस प्राण की गति को वश में करने के लिये महर्षि पातञ्जलि ने योग-दर्शन में यम-नियम इत्यादि योग के अष्टांग नियत किये हैं। उन अंगों पर ठीक प्रकार अनुष्ठान करने का नाम अष्टांग योग का अभ्यास कहाता है। इस मार्ग पर चलनेवाला मनुष्य यदि सिद्धियों के जाल में फँस न जावे, तो मुक्ति को प्राप्त होता है। उसके मार्ग की सम्पूर्ण बाधा स्थिर चित्त होकर अभ्यास करने से दूर हो जाती है ; परन्तु द्वितीय

साधन मन को वश में लाने का वैराग्य है। राग अर्थात् वासना उस वस्तु की होती है, जिसकी आत्मा अपने लिये सुलभ अप्राप्त मानता है। न तो उस वस्तु की इच्छा होती है, जो लाभदायक न हो और न उस वस्तु की इच्छा होती है, जो प्राप्त हो और जो वस्तु प्राप्त तथा हानिप्रद हो, उसमें द्वेष होता है। अब उपयोगी वह वस्तु होती है, जो न्यूनता को पूरा करे अथवा दोष को दूर करे।। जब तक जीवात्मा अविद्या से अपने को शरीर समझता है; तब तक जो वस्तु शरीर की त्रुटि को पूरा करती है, भोजनादि अथवा शरीर के दोष को दूर करती है; यथा घृत औषधि इत्यादि; तब उसको इनमें राग होता है। यदि सवारी को शरीरार्थ उपयोगी विचार करता है, तो उसमें राग होता है। तात्पर्य यह जितने पदार्थों में अपने होने का अभ्यास होता है, उन सबके लिये उपयोग में राग होता है।

जब जीव को पता लग जाता है कि मैं न तो शरीर हूँ और न इन्द्रियाँ, किंतु यह मेरे मार्ग में ले जाने के लिये गाड़ी तथा घोड़े हैं। इनकी सेवा में लगे रहना साईसी है। यदि यह अपनी गाड़ी होती, तो इसकी रक्षा की भी आवश्यकता होती। यह तो किराये की गाड़ी है, जिसका स्वामी हर समय किराया माँगता है। यदि थोड़ी देर के लिये वायु न मिले, तो भीतर से शब्द आता है—निकलो बाहर। यदि २४ घण्टे तक पानी न मिले, तो शब्द आता है—निकलो बाहर। यदि चार-पाँच दिवस भोजन न मिलें, तो आज्ञा मिलती है—निकलो बाहर। भला ऐसे किराये दार की गाड़ी में जिसका स्वामी क्षण-क्षण में किराया माँगता हो, स्वस्थ होकर बैठना बुद्धिमानी का काम नहीं है। नहीं, इस गाड़ी से तो जितना मार्ग की ओर चला जावे, उतना ही लाभ है; गाड़ी और घोड़ों के चराने में अधिक समय व्यय करना अविद्या है। गाड़ी का स्वामी स्वयम् करेगा। यात्री को तो जितनी यात्रा पूर्ण हो जावे, उतना ही लाभ है। जिस मनुष्य को शरीर और आत्मा का पता लग जावे, वह उस शरीर से लाभ उठा सकता है। जिसको आत्मज्ञान नहीं, वह शरीर की आवश्यकताओं में राग उत्पन्न करके अपने आपको बिगाड़ देता है। यदि आवश्यकताओं तक ही इतिश्री होती, तो कोई हानि

नहीं थी ; क्योंकि परमात्मा प्रत्येक आवश्यकता पूर्ण करते हैं ; परन्तु शरीर को आत्मा समझनेवाला तृष्णा रूपी रोग का शिकार हो जाता है। जो परमात्मा सम्पूर्ण संसार की आवश्यकताएँ पूर्ण करता है, वह एक मनुष्य की भी तृष्णा पूर्ण नहीं कर सकता ; क्योंकि जितना मिलता जावे ; तृष्णा उससे अधिक बढ़ती जाती है। जिसका कारण यह है कि संसार के पदार्थों में आनन्द तो है नहीं। जो इनमें आनन्द की इच्छा से काम करता है, उसे और मनुष्यों को (जो उससे सांसारिक पदार्थों में अधिक हैं) देखकर विचार उत्पन्न होता है कि इनको आनन्द होगा। इसलिये वह उन पदार्थों को प्राप्त करता है और सांसारिक वस्तुओं में आनन्द नहीं है, इस कारण पदार्थों के प्राप्त करने से भी आनन्द प्राप्त नहीं होता। फिर वह उससे अधिक में आनन्द समझकर उसकी इच्छा करता है। फल यह होता है सम्पूर्ण संसार का चक्रवर्ती राज्य प्राप्त होने पर भी दुःख बढ़ जाता है, आनन्द प्राप्त नहीं होता, परन्तु तृष्णा नित्यप्रति कष्ट देती है। इस कारण जब तक विद्या न हो, जब तक प्रकृति के मूल तत्त्व से मनुष्य का वास्तविक परिचय न हो, जब तक प्रत्येक वस्तु आत्मा के लिये बंधन न समझ ली जावे, क्योंकि वस्तुओं का अहंकार बंधन है, उसी से सम्पूर्ण दुःख उत्पन्न होते हैं ; जिस वस्तु को हम अपना समझते हैं, उसी के नाश होने से दुःख होता है ; जिसको हम अपना नहीं समझते उसके नाश से भी दुःख नहीं होता यदि हम उसको अपना शत्रु समझते हैं, तो उसके नाश से भी हमको प्रसन्नता प्राप्त होता है। यदि हमारा भवन भस्म हो जावे, तो हमको कष्ट होता है, यदि वह भवन बेच दिया हो, तो उसके नाश से कोई प्रसन्नता नहीं होती, यदि किसी हमारे शत्रु का मकान हो, तो उसके नाश से प्रसन्नता होती है। एक ही मकान बुद्धिभेद से दुःख उदासीनता और सुख का कारण होता है। अतएव यह नाशवाला संसार है इसकी प्रत्येक वस्तु विकारवाली पाई जाती है।[1] उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, आकृति में परिवर्तन करना, क्षय को प्राप्त होना प्रत्येक शरीर वृक्ष और वस्तुओं में देखा जाता है। जितना विनाशयुक्त

१—देखो निरुक्त १। २॥

वस्तुओं में अहकार होगा, उतना ही दुःख अधिक होगा। जितना इन अनित्य वस्तुओं से सम्बन्ध न्यून होगा उतना ही दुःख भी न्यून होगा। अज्ञानी समझते हैं कि धनवानों को सुख अधिक होता है, परन्तु यह सत्य नहीं, जितनी सम्पत्ति अधिक होती है, उतना उसका चित्त कंगाल होता है। इसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है।

दृष्टान्त—एक बार एक राजा नगर से पर्वतों पर मृगया के हेतु गया। मार्ग में बूँदें पड़ने लगीं। राजा घर की ओर लौटा मार्ग में देखा कि एक साधु बैठा हुआ है, न तो कोई उस पर वस्त्र है, न पात्र, न कोई भोजन की सामग्री है, न कोई खाट है न झोपड़ी। राजा इस साधु की दशा को देखकर चित्त में विचार करने लगा कि मैं कैसा अयोग्य राजा हूँ, जिसके राज्य में ऐसे कंगाल मनुष्य रहते हैं। यह सोचकर राजा ने २५) एक सेवक द्वारा साधु के पास भेजे। साधु ने उत्तर दिया—किसी दीन को दे दो। नौकर ने आकर राजा से कहा कि रुपया कम है, इस कारण नहीं लिया। राजा ने ५००) रु० साधु के पास भेजा तो भी उसने उत्तर दिया—किसी दीन को दे दो। जब नौकर ने आकर कहा, तो राजा ने कहा अब भी थोड़े हैं। अतः पाँच सहस्र रूपया साधु के समीप भेजे। उसने फिर उत्तर दिया किसी दीन को दे दो। राजा ने सुनकर फिर थोड़े ही समझकर पचीस सहस्र भेजे। साधु ने उत्तर दिया—किसी दीन को दे दो। अन्तिम सवा लक्ष लेकर राजा स्वयम् गये। साधु ने फिर उत्तर दिया—किसी दीन को दे दो। राजा ने कहा—स्वामिन् आपसे बढ़कर कौन दीन होगा? न तो आपके पास कपड़ा है, न झोपड़ी, न पात्र हैं, न भोजन की सामग्री। साधु ने कहा—हम तो राजा हैं। राजा ने सुनकर कहा—राजाओं के पास तो सेना होती है, आपकी सेना कहाँ है। साधु ने कहा—उनको भय होता है, इस कारण वह सेना रखते हैं; हमको भय किसका है; जिसके लिये सेना रक्खें। राजा ने कहा—राजाओं के पास कोष होता है, तुम्हारा कोष कहाँ है? साधु ने कहा—राजाओं को भय के रोग के कारण व्यय होता है। इस कारण वह कोष रखते

हैं। न हमको भय का रोग है ; न सेना की आवश्यकता है, न हमारा कोई व्यय है, फिर हम कोष क्यों रक्खें ? राजा ने कहा—आपके समीप राज-सामग्री ही क्या है। साधु ने कहा—हमारे समीप रसायन है, जिस समय चाहे इन सम्पूर्ण पर्वतों के ताम्र को सुवर्ण बना दें। यह उत्तर श्रवण कर राजा चल दिये और मन में विचार किया कि यदि यह साधु रसायनी न होता, तो अवश्य इतना प्रभूत धन ले लेता। इसका रूपया न ले लेना इस बात का प्रमाण है कि अवश्य रसायनी है। राजा रात्रि को सोने लगा, तो विचार आया कि यदि इस रसायनकर्ता साधू से दस पाँच सहस्र मन सुवर्ण बना लिया जावे, तो दो एक देश और पराजित हो सकते हैं। विचारा कि यह अवसर उत्तम है, क्योंकि रात्रि है, किसी को मालूम भी न होगा। अतः राजा साधु की ओर बिना सवारी पैदल ही चल दिये। जब साधू ने पाँव की आहट सुनी, तो पूछा। कौन है ? राजा ने कहा—मैं आपका सेवक राजा हूँ ? साधु ने प्रश्न किया कि तू इस समय क्यों आया ? राजा ने सब हाल बर्णन किया और कहा कि आप दस बीस सहस्र मन सुवर्ण बना दें। साधु ने कहा, बता दीन तू है अथवा हम ? माँगने तू आया अथवा हम ? यह उत्तर सुनकर राजा ने कहा—निःसन्देह दीन तो मैं ही हूँ। आप दया करके सोना बना दें। साधु ने कहा—अवश्य बना देंगे, तू आया कर। राजा ने साधु के पास जाना आरम्भ कर दिया और साधु ने उसे तत्व ज्ञान का उपदेश कर दिया। एक वर्ष में राजा तत्वज्ञान का विद्वन् हो गया और उसकी वह वासनायें नष्ट हो गईं। साधु ने जब देखा कि राजा अब दीन नहीं रहा ; उसकी आत्मिक दशा सुधर गई, तो साधु ने राजा से कहा कि तुम दश सहस्र मन ताम्र ले आओ, हम सुवर्ण बना दें। राजा ने हँसकर उत्तर दिया—स्वामिन ! वह ताम्र तो स्वर्ण बन चुका अब कोई आवश्यकता नहीं।

वास्तव में तृष्णावश मनुष्य अनित्य पदार्थों को नित्य बनाने के हेतु सहस्रों प्रकार के पाप करता है। क्या उस मनुष्य से अधिक कोई मूर्ख हो सकता है कि जो अनित्य को नित्य होने का प्रयत्न करता

है। अनित्य में नित्य बुद्धि अविद्या है। मनुष्य के कुल बाह्य साधन और सामत्न अनित्य हैं, इनको नित्य बनाना असम्भव है। बड़े-बड़े मूर्ख राजाओं ने पत्थरों के गढ़ बनाये, सहस्रों तोपें बनाईं, शरीर के रक्षार्थ बड़े-बड़े वैद्य, डॉक्टर रक्खे, बाडगार्ड रक्खे, क्या उन राजाओं के शरीर बच गये? मूर्ख मनुष्य नहीं जानते कि महाराजा जार्ज पञ्चम इस समय सबसे बड़े राजा हैं। उनके राज्य में एक कोटि उन्नीस लक्ष वर्ग मील पृथ्वी है; जिसमें चालीस कोटि से अधिक उनकी प्रजा है। उनकी राजधानी लन्दन संसार के सब नगरों में बड़ा नगर है। पारलियामेण्ट का उत्तम प्रबन्ध है। इन सब वस्तुओं के होते हुए भी उसके माँ बाप मर गये, भाई मरे, बेटा मरा। जो सम्पूर्ण संसार के अज्ञानी पुरुषों को शिक्षा दे रहा हैं, कि इतनी शक्ति और सामग्री होने पर उत्पन्न होनेवाला शरीर स्थित न हो सका। भला इनसे अधिक कौन मूर्ख मनुष्य हो सकता है कि जो धन के भरोसा पर परमात्मा के अटल नियमों की ओर संकेत करता है और बताता है कि जो नित्य है, इसको कोई शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। जो वस्तु अनित्य है, उसकी कोई शक्ति रक्षा नहीं कर सकती। अनित्य का नष्ट होना अवश्य है, नित्य का स्थिर रहना अवश्य है, नित्य का काम नित्य से चल सकते हैं। नित्य की उन्नति अनित्य से नहीं हो सकती। यदि ध्यान-पूर्वक ज्ञान दृष्टि से ऋषियों के सिद्धान्तों को विचारो जो बिना किसी सांसारिक प्राकृतिक सामिग्री के जंगलों में रहते हुए भी राजाओं के राजा थे। किसी की शक्ति न थी कि उनको कष्ट दे सके। इनको कष्ट दे ही कौन सकता था; क्योंकि वह ऐसी बलवान शक्ति के आश्रय थे कि जिसके सामने संसार की सम्पूर्ण शक्तियाँ तुच्छ हैं। गवर्नमेण्ट का पाँच रु० मासिक का सिपाही बड़े-बड़े धनपतिकों को पकड़ लाता है। क्या वह चपरासी की अपनी शक्ति होती है? उत्तर मिलता है नहीं; किन्तु वह उस शक्ति के आश्रय है जिसके प्रबन्ध में सम्पूर्ण संसार के राजा जी रहे हैं, जिसके यंत्र, अग्नि, पानी, वायु, विद्युत, ऐसे बलवान है कि कोई बड़े से बड़ा राजा भी उसका प्रबन्ध नहीं कर सकता। इसके यंत्र भूचाल आदि ऐसे हैं कि एक क्षण में

राजाओं के राज्य को सेना आदि सहित नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं। चाहे सामुद्रिक जहाज़ हो अथवा वायुयान ; परमात्मा की शक्ति का सामना नहीं कर सकते। अज्ञानी अपनी अज्ञानता से परमात्मा को त्याग प्राकृतिक वस्तु की आश्रय लेते हैं ; परन्तु इस अविद्या के कारण अपने आपको दुःखमय बना लेते हैं। जो मनुष्य परमात्मा के ज्ञान से अपने आत्मिक बल को बढ़ा लेते हैं, उनको दबाने वाली कोई शक्ति नहीं। जबकि सरकारी सिपाही निज राजा के भरोसे बड़े-बड़े मनुष्यों को पकड़ लाते हैं, तो ईश्वर-भक्तों को किसका भय हो सकता है। वह जानते हैं कि मृत्यु हमारे स्वामी के हाथ है। अतिरिक्त उसके कोई नहीं मार सकता बलवान मनुष्य दूसरों के मारने का विचार कर सकता है, परन्तु मारने में सफल नहीं हो सकता। मनुष्य के हाथ में केवल उसका विचार है, वह कुविचार से अपने आपको पापी बना सकता है, परन्तु अपने शत्रुओ को हानि पहुँचा देना उसके अधिकार से बाहर है। जितना मनुष्य का भोग दुःख अथवा सुख है वह प्रत्येक दशा में उसको भोगना पड़ेगा। जिस मनुष्य का भोग उत्तम है, वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति नष्ट कर दे, धनवानों को कठोर से कठोर गाली प्रदान करे, किसी की पर्वाह स्वप्न में भी न करे, तो भी उसके सुख के साधन सब ही एकत्रित रहेंगे। सुभाग्य मनुष्य कहीं भी चला जावे, उसे दुःख नहीं हो सकता। वह मनुष्य मूर्ख हैं, जो सुख को धन के आश्रय समझते हैं। धन से सुख नहीं हो सकता, किन्तु धन दुखदाई है। जो काम धनवान् धन से नही कर सकते, वह ईश्वर-भक्त सरलता से कर सकते हैं। संसार में धन के चार फल दृष्टि पड़ते हैं। प्रथम यह कि धनवान् भोजन उत्तम खा सकता हैं; परन्तु ऐसा कोई भोज्य पदार्थ नहीं, जो पशुओं को न मिलता हो। मांस-भक्षी मनुष्य मांस को उत्तम समझते हैं, परन्तु जिन पशुओं का मांस मनुष्य सेवन करते हैं, उन्हीं का पशु भी सेवन करते हैं। ऐसा कौनसा जीव है, जिसका मांस बाज़ आदि पक्षी अथवा व्याघ्र गीदड़ आदि पशुओं को प्राप्त न होता हो। मनुष्य मेवे और अन्न खाते हैं, जिसको पशु पक्षी भी खाते हैं।

मनुष्य के भोज्य पदार्थ में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो दूसरे जीवों को अप्राप्त हो। जबकि वह भोजन, जिसको धनवान् खाते हैं, परमेश्वर ने पशुओं को भी दे रक्खा है ; तो इसके लिये ईश्वर-भक्ति को त्याग कर धन एकत्रित करने लग जाना, अविद्या नहीं तो और क्या है ? हमने अनुभव किया है कि ईश्वर-विश्वासी मनुष्य धनवानों से नित्य उत्तम भोजन करते हैं । यथा साधुओं को देखिये, वह भोजन करने में किसी अमीर से कम नहीं, क्योंकि उनको प्रत्येक निर्धन और धनवान् निमंत्रण देते हैं और अपने भोजन से उत्तम भोजन खिलाते हैं ; द्वितीय सुख जिसको धन से प्राप्त होना समझते हैं ; सेवकों से काम लेना है। इस काम में भी ईश्वर-भक्त धनवानों से अच्छे रहते हैं ; क्योंकि ईश्वर-भक्तों को प्रत्येक स्थान में सेवक मिल जाते हैं। राजा, महाराजा भी उनकी सेवा का परम कर्त्तव्य समझते हैं ; जैसा कि एक उर्दू कवि का वचन है—अय हुमा पेशे फ़कीरी सल्तनत क्या माल है ; बादशाह आते हैं पाबोश गदा के वास्ते"। जिन मनुष्यों ने काशी में स्वामी भास्करानन्द की दशा को देखा होगा, उनको पता है कि ईश्वर-भक्तों के सेवक किस कदर हैं। तृतीय फल जो धन से निकलता है, वह प्रतिष्ठा है ; परन्तु ईश्वर भक्तों के सम्मान के आगे धनियों का सम्मान तुच्छ है। वह जिस देश में जावे; वहाँ उनका सम्मान प्रस्तुत है। स्वामी रामतीर्थ यदि भारतवर्ष में प्रतिष्ठा पाते थे, तो अमरीका में भी उनकी प्रतिष्ठा कम न थी। जितना सम्मान आज बाबा नानकजी का सिक्खों के हृदय में है, क्या महाराज रणजीतसिंह का भी उतना ही है ? क्या जितनी प्रतिष्ठा व्यासजी की हिन्दुओं के हृदय में है, क्या युधिष्ठिर की भी उतनी प्रतिष्ठा हो सकती है ? प्रयोजन यह है कि जितनी प्रतिष्ठा ईश्वर-भक्तों की होती है, उतनी धनवानों की नहीं। चतुर्थ यह कि धनवानों को विश्वास रहता है जब कोई आपत्ति आवेगी, धन से उसको नष्ट कर देंगे। जैसा कि किसी नीति का बचन है—आपत्ति के लिये धन एकत्र करना चाहिये। धनवानों को क्या आपत्ति हो सकती है, यदि आपत्ति आवेगी भी, धन से नष्ट हो सकती है ; परन्तु वह यह नहीं जानते, आपत्ति जब आवेगी, धन भी नष्ट हो जावेगा ; परन्तु जो

मनुष्य ईश्वर-भक्त हैं, वह निर्भय रहते हैं। कोई आपत्ति भी उनका सामना नहीं कर सकती ; क्योंकि वह जानते हैं, परमात्मा के राज्य में आपत्ति कोई वस्तु नहीं। जो वह करता है ; अच्छा करता है। यद्यपि रोगी को कड़वी औषधि बुरी मालूम होती है, परन्तु उसको गुणदायक होती है। इसी प्रकार ईश्वर के न्याय से, जो हमको दंड मिलता है, वह हमारे मन से पापों की मलिनता को दूर करता है, इस कारण वह भी उपयोगी है। मनुष्य को जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक उसको प्राकृतिक पदार्थ उत्तम जान पड़ते हैं ; परन्तु तत्वज्ञानी जानते हैं कि धन की तृष्णा जितनी दुखदायक है, अन्य उससे कोई पदार्थ दुखदायक नहीं। यथा सर्प-स्पर्श में नरम प्रतीत होता है ; परन्तु काटने से मृत्यु आ जाती है। इसी प्रकार यह चमत्कारिक पदार्थ धन तथा स्त्री यद्यपि देखने में उत्तम मालूम पड़ती है ; परन्तु वास्तव में सत्य से दूर ले जाकर मृत्यु का कारण होती हैं ; क्योंकि परमात्मा ने आत्मा को इंद्रिय मन और शरीर का राजा बनाया है ; परन्तु इन चमत्कारिक पदार्थों के आवरण से धोखा खाकर आत्मा इंद्रियो का सेवक हो जाता है और सत्य व धर्म से दूर हो जाता है। उस समय मन जिस प्रकार आत्मा को नचाता है, वैसे ही आत्मा नाचता है। अतएव परमात्मा ने वेद में उपदेश किया है कि चमत्कारी वस्तुओं के आवरण से सत्य का मुख छिपा हुआ है। यदि तुम चाहते हो कि आत्मिक बल में उन्नति हो और सत्य धर्म के ज्ञाता हो जाओ, तो सबसे प्रथम उस आवरण को दूर करो। जब तक यह आवरण है, तब तक तुम सत्य को नहीं जान सकते। मनुष्य यदि सत्य से पतित हो जावे, तो उसका जीवन पशुओं से भी निकृष्ट हो जाता है। मनु ने स्पष्ट लिखा है कि लोभी, कामी, मनुष्य कभी धर्म को नहीं जान सकता। इसी कारण जो लोभ तथा काम में लिप्त नहीं हैं, उन्हीं को धर्म के जानने का अधिकार है और जो लोभ और विषय में लिप्त हैं, उनको धर्म के जानने का अधिकार ही नहीं। जिनको धर्म के जानने का अधिकार ही नहीं, आज भारतवर्ष में वह धर्म के आचार्य हैं। गृहस्थ का तो धन पैदा करना धर्म है, परन्तु भारत में कोटिपति

सन्यासी कहे जाते हैं । लक्षों रुपया एकत्रित करके उदासी नाम रख लिया। वास्तव में यहाँ अविद्या ने ऐसा पाँव जमाया है कि धर्म नौका भँवर में जा पड़ी है। यद्यपि इस देश में ५२ लक्ष साधु हैं, परन्तु इसी प्रकार यथा पाञ्चाल में नाई का नाम राजा रख लेते हैं। यदि उन ५२ लक्ष में से ५२ भी साधु होते तो देश का कल्याण हो जाता ; यह संन्यासी उदासी नहीं ; किन्तु वान्ताशी अर्थात् वमन करके चाटने वाले हैं। बहुत से अल्पायु में साधु हो गये, जिन्होंने संसार को कुछ देखा ही न था। साधुओं में आकर कुछ पढ़ लिख गये, गृहस्थों में कुछ प्रतिष्ठा होने लगी । अतिरिक्त इसके कि वह गृहस्थों का उपकार करते, उन्हीं से धन लेकर मठधारी बनना और उन्हीं के धन से अपने शरीर का शृंगार करना और उन्हीं के धन से पुत्र देने के मिषसे उनको पतित करना उनका धर्म हो गया। धर्म कर्म को यह सब मिथ्या बताने लगे। यदि धर्म कर्म का उपदेश करते, तो सम्भव था कि कोई गृहस्थ इनसे प्रश्न कर बैठता—महाराज ! आप क्या कर्म करते हैं ? उन्होंने जगत् मिथ्या बताकर धर्म कर्म को मूल से नष्ट कर दिया। यदि कोई इन मिथ्यावादियों से पूछे कि महाराज ! जब संसार मिथ्या है, तो आपका यह बचन भी संसार में होने से मिथ्या होगा। यदि संसार सत् है, तो भी आपका यह वचन मिथ्या ही है। शोक है कि गृहस्थ मनुष्यों ने पढ़ना त्याग दिया। अतएव मिथ्या आडम्बर वेशधारी उनको धोके में डाल अधर्म का उपदेश करते हैं। इधर संसार को मिथ्या बताते हैं, उधर गृहस्थों में धन एकत्रित करके उत्तम उत्तम सुन्दर भवन बनवाते हैं तथा सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं और बाहनारूढ़ होकर आनन्द करते हैं। जब कोई प्रश्न कर देता है—महाराज ! आप तो जगत् को मिथ्या बताते हैं ; पुनः आप ऐसे कार्य क्यों करते हैं ? तो उत्तर देते हैं—यह सब भी मिथ्या भ्रम ही है। यदि कोई गृहस्थ बुद्धिमान् दश-बीस पादत्रण से पूजा कर दे ; जब वह न्यायालय में केस चलावें, तो यही उत्तर दे—महाराज ! यह तो मिथ्या ही है ; आपने क्यों न्यायालय की शरण ली, तो उनको विदित हो ; परन्तु अभागे गृहस्थ हैं। यदि वह विद्वान होते, तो उनकी दाल न गलती।

उनकी दाल उन्हीं देशों में गलती है, जहाँ मनुष्य अज्ञानी हैं। साधु वही हो सकता है कि जिसमें साधु के लक्षण हों और वह पतित संसार के उद्धार का यत्न करे। नहीं तो कच्चे घर को त्याग और उत्तम पक्का भवन बनवा लिया। कम्बल छोड़ा, दुशाला ओढ़ लिया। एक पुत्र त्याग, शिष्य बना लिये, स्त्री त्यागी, शिष्या प्रस्तुत कर ली और सबके धर्म को नष्ट कर दिया!

हिन्द अनुवाद माण्डूक्योपनिषद् का समाप्त हुआ।

ओ३म

शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इत्याचार्य विश्वश्रवसा संपादितः

श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती कृत उपनिषत्प्रकाशः

समाप्तः